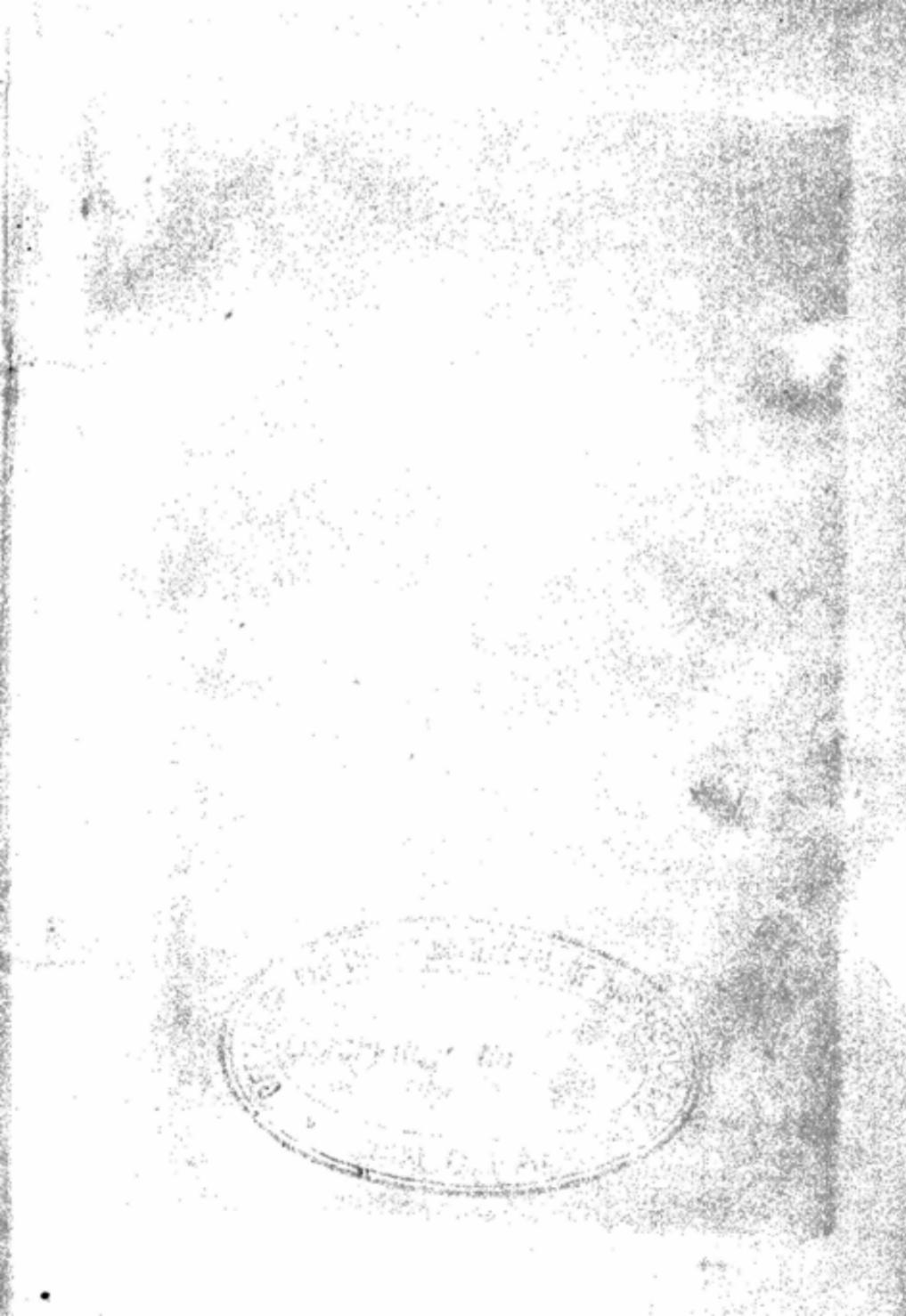


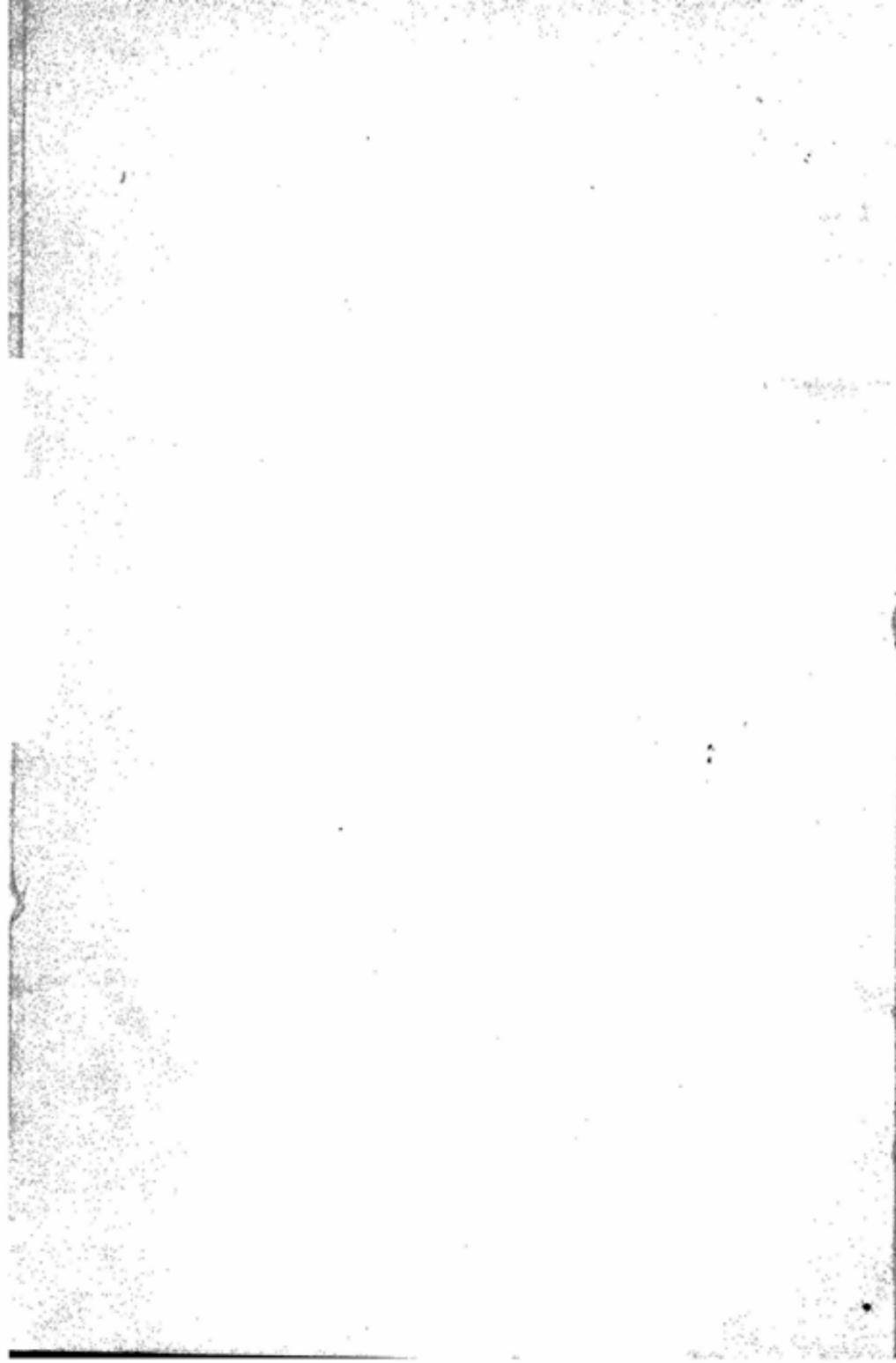
GOVERNMENT OF INDIA
ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA
CENTRAL
ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO. 19607

CALL NO. 294.1 / Via

D.G.A. 79





कुम्भ-संस्करण

卷之六

* ३० *

वैदिकाश्रम-ग्रन्थ-माला संख्या ३

वेद-सन्देश

19607 द्वितीय भाग
(मानस-सन्देश)

अन्तःकरण के स्वरूप, बल तथा सदुपयोग का
कथाके रूपमें पूर्ण वर्णन ।

१५५८
श्री विश्ववन्धु शास्त्री, एम.ए.एम.ओ.एल.
२९४। आचार्य

१८ द्यानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय, लाहौर ।

पं० देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर ने
श्रीमती प्रबन्धकर्त्री-सभा, डी.ए.वी. कालेज लाहौर
के लिये प्रकाशित किया ।

प्रथमवार
२०००

‘हिन्दी प्रैस’

रेलवेरोड,
लाहौर।

INDO-ASIAN PHILOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 19607.....
Date 23.3.63.....
Call No. 2541/Vis.....

समर्पणम्

सत्यप्रियो यतिवरो विमलस्तपस्वी,
 कुम्भे पयोधिनयनग्रहचन्द्रवर्षे ।
 मन्दाकिनीतटभुवि प्रणिखातवान् यः,
 पाखण्डखण्डनविधावभयं पताकाम् ॥ १ ॥
 श्रौतैकमाननिपुणैरुपपत्तिर्तीव्रै-
 रामासयन् निगमनैर्विविधप्रमाणैः ।
 मिथ्याविचारजटिलान् बहुवादिवादान्,
 वेदाख्यलोकजननीमुददीधरच्च ॥ २ ॥
 श्रतिप्रणित्या सुवितानकीर्ते-
 र्जनोपकृत्या प्रगतिं गतस्य ।
 गुरोर्दयानन्दमुनेः प्रियः स्या-
 छघूपहारः शिशुना कृतोऽयम् ॥ ३ ॥

समर्पण

कहां वेदका अतिगहन, गंभीर, अथाह सागर
और कहां मुझ सरीखा, निःसाधन, निर्बल नाविक !
अपनी अशक्तिका विचार करता हुआ आश्र्य
करता हूं कि मेरी यह कठिन यात्रा क्योंकर
पूरी होगी ! हां, निराशा-धनाच्छादित, मेरे
मानसिक नभोमण्डलमें भगवान् दयानन्दद्वारा
प्रदर्शित प्रकाशकी झलक है । यही मेरा बल है
और यही मेरा सहारा है । उसी अखण्ड ब्रह्मचारी,
कठिनत्रतधारी, जनोपकारी, वैदिकधर्मधुरंधर,
विद्वन्मण्डलमण्डन, महामुनिके उत्साहसे उत्साहित
होकर, मैं इस दुर्गम, दुस्तर यात्रापर निकल
पड़ा हूं । उस सचे गुरुने सँ० १९२४ के हरद्वार-
कुंभके पर्वपर पाखण्डखण्डनीपताका गाढ़कर,
वैदिकधर्म-पुनरुद्धारके पवित्र संकल्पको धारण
किया था । उस महत्त्वपूर्ण घटनाके उपलक्ष्यमें
यह लघु उपहार ऋषि-चरणोंमें सादर समर्पित है ।

विश्ववन्धुः

प्रस्तावना

१. वेदसन्देशके प्रथम भागके अन्तमें यह लिखा गया था कि अन्तःकरणकी शुद्धि आदि विषयोंपर आगे लिखा जावेगा। परन्तु इस अन्तरमें कई प्रकारके कार्योंमें लगे रहनेके कारण, इससे पूर्व इस मानसिक भावनाको कार्यरूपमें लाना संभव नहीं होसका। अब भी जिस अवस्थामें यह भाग जनताके सामने उपस्थित है, यह अनेक बातोंमें संशोधनकी आपेक्षा करता है। शारीरिक अस्वास्थ्यमें इसका आरंभ किया गया और उसी दशामें इसे समाप्त करना पड़ा है। हरद्वार-कुम्भके उपलब्ध्यमें यह लिखा गया है और उस पर्वका समीप होना ही इस शीघ्रताका मुख्य कारण है।

२. रचना-क्रमके अनुसार इस भागमें दो अध्याय रखनेका विचार था। परन्तु मानसाध्यायका अधिक विस्तार होजानेके कारण, इसे ही यहां पूर्णरूपसे देना उचित समझा गया है। विषयको सुगम करनेकेलिये उच्चासोंके अन्दर खगड़ोंकी कल्पना और बढ़ा दी गयी है। स्वाध्यायशील सज्जनोंको इससे अधिक लाभ होगा। विषयों तथा प्रमाणोंकी सूचियां मालाके अन्य ग्रन्थोंकी तरह, यहां भी लगा दीगयी हैं। आशा है, आर्यपाठक-वर्ग वेदसन्देशके इस भागको भी पूर्ववत् अपनाकर, तीसरा भाग लिखनेकेलिये उत्साहित करेंगे। उसमें वैदिक ईश्वर-भक्तिका वर्णन होगा। अनुभवी विद्वानोंसे प्रार्थना है कि जो त्रुटियां रह गयी हों, उनकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित करके, मुझे अपना आभारी बनावें। पं० भीमदेवजी शास्त्री पम. ए. पम. ओ. एल ने सूचियां तथ्यार की हैं, और शुद्ध प्रकाशनका श्रेय पं० देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्त्रको है।

वैदिकाश्रम, लाहौर
महाशिवरात्रि, १९५३

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ
(क) प्रथमोद्घास—अन्तःकरणनिरूपण,	१-३३
१म खण्ड—ग्रन्थारम्भ निर्देश, मानसी प्रार्थना,	३-४
२य खण्ड—मथुरा-शताब्दीका नायक, शताब्दीका सन्देश,	४-१०
३य खण्ड—अन्तःकरणका स्वरूप, आत्माकी शक्ति, मनकी गति, ...	१०-१६
४थ खण्ड—मानसिक जगत्, संशय, निश्चय, स्मृति आदिका ज्ञान, ...	१६-२१
५म खण्ड—मानस-सरोवर, सरस्वतीकी महिमा, मानसिक बल,	२२-३३
साधककी आत्म-चेतावनी ...	३४
(ख) द्वितीयोद्घास—सरस्वती-जागरण, ३५-८८	
१म खण्ड—बुद्धिकी प्रेरणा, बुद्धिका आदर्श तथा प्राप्ति, ३७-४८	
२य खण्ड—ज्ञानकी महिमा, वाणीका उपयोग, सार्वभौम वेद,	४८-६१
३य खण्ड—वागदेवीका आत्म-दर्शन, सबकी आ- धारभूत सरस्वती, प्राचीन समयकी भलक,	६१-७४
४थ खण्ड—शरणागतकी टेर, तीन और सातका रहस्य, ज्ञानसे मित्रता, तपका महत्त्व,	७४-८८

(ख)

		पृष्ठ
(ग) तृतीयोच्चवास—मार्ग-प्रदर्शन,		८९-१३८
१म खण्ड—धारणाकी दृढ़ता, साधकोंका संकल्प,		
स्वप्रका रहस्य, विचार-शक्तिकी महत्ता, ११-१०१		
२य खण्ड—पापसे घृणा, धर्ममें प्रवृत्ति, शारीरिक		
तथा मानसिक शुद्धि, ... १०२-११२		
३य खण्ड—पश्चात्ताप और पुनरुद्धार, परमात्माका		
ब्रत, पापके भेद, जीवनका चिह्न,		
पापसे कुट्टकारा, ११३-१२४		
४र्थ खण्ड—जीवनका आदर्श, भूतकी व्याख्या,		
तीन प्रकारकी पवित्रताएं ... १२४-१३८		
(घ) तुरीयोच्चवास—साधन-संविधान, १३९-१७९		
१म खण्ड—सत्संग और सज्जनता, श्रेष्ठ मनुष्य,		
मित्रताका भाव, उच्चत आदर्श, १४१-१५०		
२य खण्ड—आचार-प्रतिष्ठा, सत्यकी महिमा, अ-		
स्तेयका भाव, सात मर्यादाएं, १५१-१६०		
३य खण्ड—यात्राका आरम्भ, साधकका जीवन,		
जीवनकी कठिनाई, कर्मका महत्त्व, तप,		
दीक्षा, दक्षिणा और अद्वाल्पी चार		
पड़ाव, परम ब्रत, ... १६०-१७०		
४र्थ खण्ड—शान्तिका सन्देश, अन्तिम लक्ष्य,		
विश्व-प्रेमकी आक्षा, उपसंहार, १७०-१७९		

मंत्रोंकी अकारादि क्रमसे सूची ।

	पृष्ठ		पृष्ठ
अ			
अक्षणवन्तः कर्णवन्तः	५७	आ देवानामपि पन्थां	१४९
अप्ने त्वं सुजागुहि	१६१	आयुर्यज्ञेन कल्पतां	१२८
अप्ने तपस्तप्यामहे	८३		
अप्ने व्रतपते व्रतम्बरिष्यामि	१६९	इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं	१४८
अप्ने व्रतपते व्रतम्	१७७	इदमिन्द्र शृणुहि	९४
अनमित्रं नोअधरात्	१४७	इदमुच्छेयो	१७१
अपक्षामन् पौरुषेयाद्	९८	इधेनाम् इच्छमानो	४६
अमाकृत्वा पाप्मानं	१०५	इहैवाभि वितन्०	७७
अव ज्यामिव धन्वनो	१६२		
अझमन्वती रीयते	१६३	उत त्वः पश्यन्नददर्शी	५४
असद् भूम्याः	१५५	उत त्वं सख्ये स्थिरपीतं	५५
अहं राष्ट्री संगमनी	६४	उपहूतो वाचस्पति	७७
अहं रुद्रायधनु०	६९	उपहूरे गिरीणाम्	२३
अहं रुद्रभिर्वसुभिः	६२	उभाभ्यां देव सवितः	१०८
अहं सुवे पितरं	७०		
अहं सोममाहनसं	६३	ऋचं साम यजामहे	८०
अहमेव वात इव	७१	ऋचं साम यदग्राक्षं	८१
अहमेव स्वयमिदं	६८	ऋतस्य गोपा	१३५
आ		ऋतस्य तन्तुविततः	१३६
आकृति देवीं सुभगां	१००	ऋतस्यर्तेनादित्या	१२२
आकृत्यानो बृहस्पत	१०१		
आ त एतु मनः	२५	कामेन मा काम	१४६

(घ .)

	पृष्ठ		पृष्ठ
च			
चोदयित्री सूनूतानां	... ५०	परः सो अस्तु	... १५७
त		परि मामने दुश्चरितात्	... १५९
तत्सवितुर्वरेण्यं	... ३९	पर्यावर्ते दुष्वान्यात्	... ९७
तपश्चा स्तां	... १६५	पवमानः पुनातु मा	... १०८
तां सविता सवां	... १७३	पवित्रवन्तः परिवाचम्	... १३३
ते न आस्नोवृकाणां	... १४२	पावका नः सरस्वती	... ४९
त्वं हि नस्तन्वः	... ११८	पुनन्तु मा देवजनाः	... १०७
त्वं नो मेधे	... ४०	पुनरेहि वाचस्पते	... ७६
त्वमग्ने प्रथमो	... १७४	पुनर्नं पितरो	... २६
द		प्रति पन्थामपश्चहि	... १५२
द्वते द४ह	... १७४	प्रलान् मानादध्या	... १३४
द्वते द४ह मा	... १७५	प्र स मित्र	... १७०
दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्	... १५५	ब	
देवा यज्ञमतन्वत्	... १५८	बृहस्पतिर्नः	... १११
दौष्ट्वप्यं दौर्जीवत्यं	... १०४	भ	
यावा पृथिवी अनु मा	... ९५	भद्रमिच्छन्त क्रथयः	... १६६
शौश्र म हृदं	... ४५	म	
द्रुपदादिव मुमुचानः	... ११२	मधुमन्मे निक्रमणं	... १६१
द्वे सृती अशृणवं	... १२६	मधुवाता क्रतायते	... १२७
न		मनसः काममाकृतिं	... १२४
न बहवः सम शकन्	... १०४	मनो न्वा दुवामहे	... २५
न मा तमच्च	... १४५	मया सो अक्षमत्ति	... ६७
प		मयि त्यदिन्दियं	... १७६
पञ्चनयः सरस्वतीम्	... २४	महश्चिदग्न एनसो	... ११७
		महो अर्णः सरस्वती	... ५१

	पृष्ठ		पृष्ठ
महां यजन्तु मम	१५	यास्ते शिवास्तन्वः	१६४
मा नः समस्य दूढयः	१४३	ये त्रिष्प्राः परि यन्ति	७५
मा नो वधाय हत्येऽ	११५	ये मूर्धानः क्षितीनां	१४२
मा नो हासिषुक्रेष्यो	१२०	ये वृक्णासो अधि	१४४
मा भे मां संविक्था	१३०	यो नः पाप्मन्	११०
माहिर्भूर्मा पृदाकुः	१५२	यो नो रसं दिप्सति	१५७
मेघां सायं मेघां	४२		
मेघामहं प्रथमां	४१		
		व	
		वर्यं सोम व्रतं	२८
यच्छिद्धि ते विशो	११५	वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्	८६
यच्छिद्धि पुरुषपत्रा	११६	विश्वा उत त्वया	१७१
यज्ञेन वाचः	५२	वैश्वदेवीं वर्चस	१७२
यक्षिन्वेदं वरुण	११९	व्रतेन दीक्षाभास्तोति	१६७
यथा भूमिमृतमना	१५६		
यदग्ने तपसा तप	८३	श	
यदस्मृति चक्रम्	९९	शतधारमुत्सं	८७
यदाशत्सा वदतो	३१	शिवा नः शंतमा	८४
यदि जाग्रद् यदि	१२३	शुक्रोसि आजोसि	९३
यद्वेवा देवहेडनं	१२१		
यद्विद्वासो	१२२	स	
यन्मे छिद्रं चक्षुषोः	२९	संज्ञानामहै मनसा	७९
यस्तित्याज सचिविदं	५६	संज्ञानं नः स्वेभिः	७८
यस्ते स्तनः शशयो	३०	सकुमिव तितउना	५१
या मेघा क्रम्भवो	४१	स तेजीयसा मनसा	२८
यामृषयो भूतकृतो	४१	सप्त मर्यादा	१५९

(च)

सम्यक् सम्यन्वयो	४४	सूरिसि वचोधा	१३
सरस्वती देवयन्तो	८५	सूर्यो मे चक्षुर्वातः	१०६
सर्वे नन्दनिति	५८		ह
सुविज्ञानं चिकितुषे	१५३	हंसा इव श्रेणिशो	१४४

अकारादिक्रमसे विषयसूची ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अ		उ	
अज्ञान-मदका नाश	७३	उच्चतम आदर्शकी नींव आत्म- विश्वास	७८
अन्तःकरण एक विस्तृत नदीके समान है	२४	उपसंहार	१७९
अन्तःकरणका स्वरूप	१०	उंचा आदर्श	८१
अन्तःकरणकी वृत्तियाँ	२१	म्	
अविद्यान् होना पाप है	६६	‘ऋक्’, ‘साम’का तात्पर्य	८०
अविद्या ही पापका मूल है	११६	क	
अशुद्धिका मूलोच्छेदन	१०७	कर्मवीर बनो	१३७
आ		कल्याणका मूलमन्त्र	६७
आचार-प्रतिष्ठा	१५१	ग	
आत्म-रक्षा	१०५	गुरुमन्त्रकी महिमा	३९
आत्मविश्वास और विशेष	१५	ग्रन्थारम्भ-निर्देश	३
आत्मा और मनका सम्बन्ध	१७	घ	
आत्माका धर्म-ज्ञान	१२	घृणाका विषय	१०३
आदर्श गुरु	८७	च	
आर्य पण्डित और शास्त्र	१३	चोरीकी निन्दा	१५७
इ		छ	
इन्द्र जीवात्माका नाम है	१५८	छिद्रपूर्तिकी भावना	२९
इन्द्रियोद्धारा जगत्का अनुभव	८	ज	
ईश्वरीय वाणीका विस्तार	५३	जल शान्तिका चिह्न	११२
		जागृतिकी महिमा	१४१

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
जातीय नेताका स्वरूप	१४२	दोनों आंखें खोलो	३३
जीवनका आदर्श	१२४	ध	
जीवनका मुख्य चिह्न	२६	धारणाकी दृढ़ता तथा स्थिरता	११-१०१
जीवनका लक्षण	१२१	धार्मिक अरुचि	१२९
जीवनकी पराकाष्ठा	१७६-१७७	धैर्यकी महिमा	१३५
जीवनके दो भाग	१२७	ध्यानमें प्राकृतिक योग	२३
जीवनके पूर्णता-भेद	१३१	न	
जीवन-यज्ञ	१२२	नवयुवकका आगमन	...
जीवात्माका स्वरूप	२०	नेकीका आधार परमात्मा	१३६
ज्ञानका लक्ष्य	३१	प	
ज्ञानकी महिमा	४८	पथरीली नदी	१६३
ज्ञानीकी परीक्षा	७९	पवित्रता शारीरिक तथा मान-	
ठ		सिक स्वास्थ्य-वर्धक	१०८
ठीक साधन सम्पत्तिका उत्पादक	८८	पश्चात्ताप और पुनरुद्धार	११२-११४
त		पापका अन्त तुरा है	१०६
तप और दीक्षा	१६७	पापके दो भेद	११७
नपकी महिमा	१६५	पाप प्रवृत्तिका कारण	१११
तीन और सातकी व्याख्या	७५	पापसे घृणा	१०२
तोते रटना आत्मिकशांतिदायक नहीं है	१६८	पापसे मुक्ति	१२३
द		पापीका जीवन सूखे बांसके	
दीनताका जीवन महापाप है	३२	समान	१०४
दुःस्वर्गका प्रतीकार	९७	पुरुषका लक्ष्य	५६
देह परमात्माकी अद्भुत रचनाका परिचायक	६२	प्रतिदिनकी धारणा	८८
		प्रत्येक प्राणी सुखाभिलारी है	१६६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रबोधकी हृच्छा	... १६१	महापुरुषोंका लक्षण	१३३-१३४
प्रभुका सहारा	... ११५	मानस सरोवर	... २२
प्रभुकी प्रार्थना	... ५	मानसिक जगत्	... १६
प्रभुको प्रसन्न करनेका मार्ग	... ६८	मानसिक तालाब	... १५२
प्रभु-प्रसाद पानेका मार्ग	... १२८	मानसिक माध्यम	... १५
प्राप्त और अप्राप्तका भेद	... २७	मानसिक विस्तार	... ७७
ब		मासिक सागरकी तरंगें	... १६४
बुद्धि और ऐश्वर्य	... ४५	मानसिक स्वास्थ्य	... १०९
बुद्धि और महत्व	... ४७	मानसी प्रार्थना	... ४
बुद्धिका आदर्श	... ४३	मार्ग बदलनेमें शान्ति	... ११०
बुद्धिकी प्रेरणा	... ३७	मित्रताका पक्षा आधार	... ५३
बुद्धिकी विशालता	... ५०	भेदाकी अराधना	... ४१
ब्राह्मणका धन तपस्या	... ६०	मोह और अमही सन्तापका	
भ		मूल है	... १२०
भगवान्‌का मधुर प्रसाद	... ८५	य	
भला वही जिसका अन्त भला	... १५६	यज्ञका प्रत्येक अंग संकेत पूर्ण है	६४
भावनाको स्थिर करो	... १००	यज्ञकी हवि आध्यात्मिक त्यागका	
भौतिक देवता	... १२६	संकेत है	... ९६
म		यात्राका आरम्भ	...
मथुराकी शताव्दीका नायक	५	ब	
मनकी आन्तरिक सत्ता	... १९	वार्षंदीका आत्मदर्शन	... ६३
मनकी सत्ता	... ११	वाणीका दैवतयोग	... ६३
मनुष्यका परम लक्ष्य	... १७१	वाणीका विस्तार	... ७१-७२
मनुष्योंमें हंस	... १४५	वास्तविक मित्रताका आधार	... ५२
मनो-बलका स्रोत	... २५	विज्ञान और ध्यानमें हृच्छि	... ८६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
विद्याका लक्ष्य	५७	सत्संगकी महिमा	१४३
विद्वानोंका आदर्श	५९	सदूरु अविद्या नाशक	१४४
विश्व-प्रेम	१७५	सन्तोंसे द्रोह	११९
वेद अनुभवका मार्ग बताता है	१७८	सरलताकी महिमा	१५३
वेद और सरस्वती महात्मा	४९	सरस्वतीका प्रसाद	६९
वेदका उच्चादर्श	७०	सरस्वती स्नानका फल	५१
वेदका पवित्र वचन दिव्यवचन है	९८	सर्व प्रिय विद्वानका स्वरूप	५८
वेद चार भी हैं और एकभी है	८२	सात मर्यादाएं	१५५
वेदसे बुद्धिकी महिमाका ज्ञान	४०	साधककी आत्म चेतावनी	३४
वैदिक जीवन-नीति	१२५	साधनाकी आवश्यकता	१७२
वैदिक संकल्प दर्शन	१२५-१४४	सामाजिक सज्जनताका मूल प्रेम	१४६
श			
शताब्दी दृश्य	६	सामाजिक साक्षरता	६५
शताब्दी रहस्य	७	सार्वजनिक आश्वासन	९९
शताब्दी संदेश	९	सुमतिकी प्राप्ति	१७३
शरणागतकी टेर	७४	सूर्यकी रश्मियोंके साथ बुद्धिका	
शान्तिका सन्देश	१७०	सम्बन्ध	४२
स			
सच्चा साधक	१२	सोमका व्रत	२८
सत्यका व्रत	१६९	स्वाभाविक सत्यप्रियता	१५५
सत्संग और मित्रभाव	१४८	ह	
सत्संग और सज्जनता	१४९	हमारे जीवनका आदर्श	१३०
		हृदयकी समीपता	१४७

वैदिकाश्रम ग्रन्थमाला लाहौर

अथान्तःकरणनिरूपणो नाम
प्रथम उच्छ्वासः ।



* ओ३म् *

प्रथम खण्ड

ग्रन्थारंभनिर्देश ।

नत्वा कोटिशो देवं भुवनेशं दयानिधिम् ।

पुण्यो रच्यते ग्रन्थो वेदसन्देशनामकः ॥ १ ॥

अर्थ—भगवन् ! आप प्रकाशस्वरूप ब्रह्मारण्डके पति दयाके भण्डारको वारंवार नमंस्कार करके पुण्य वेदसन्देश नाम वाले ग्रन्थको रचता हूँ । आप हीकी दयासे यह प्रयत्न सफल हो ॥ १ ॥

सन्देशौ तनुतत्त्ववर्णनपरावादौ हि भागे गतौ,

निर्मास्येऽथ विभो ! तवैव कृपया भागं द्वितीयं शुभम् ।

पावित्र्यामृतवर्षणेन खलु यः कुर्वश्च पुण्योदयम्,

अन्तर्नेत्रनिरूपणेन सफलो भूयात् सतां प्रीतिये ॥ २ ॥

अर्थ—हे विभो ! प्रथम भागमें आत्मतत्त्व तथा शरीरका वर्णन करके, अब तेरी कृपासे दूसरा भाग आरंभ करता हूँ । भगवन् ! दयाहृषि करो ताकि अन्तःकरणके निरूपणद्वारा, जगतमें पवित्रताके अमृतकी वृष्टि करता हुआ, यह ग्रन्थ पुण्यका विकास करे और सज्जनोंके प्रेमका पात्र बनारहे ॥ २ ॥



मानसी प्रार्थना ।

संसारेऽतिविचित्रचिते दुष्टश्रेष्ठविभागयुते ।

दुःखं हर्त्तमयीश हरे ! महां देहि वलं सुखदम् ॥ १ ॥

अर्थ—भगवन्, संसार अति विचित्र है। दुष्ट तथा श्रेष्ठका अन्तुत विभाग पाया जाता है। हे हरे ! मुझे दुःख-नाशक, सुख-दायक वल प्रदान करो, ताकि मैं अपनी मंगल-कामनाओंको पूरा कर सकूँ ॥ १ ॥

चित्तक्लेशकरं सकलं दौर्बल्यं मनसश्च मलम् ।

हीनाचारविचारदलं, किं हर्त्तन्न हरे त्वमलम् ॥ २ ॥

अर्थ—महाराज, मेरी दुर्बलता और मनकी मलिनता मेरे चित्तको क्लेश देती हैं। हरे ! हीन आचार तथा विचारके बैरि-दलको क्या आप हटा नहीं सकते ? ॥ २ ॥

ज्ञात्वाप्यंग विभो हृदयं व्यामृढं मम चापि चलम् ।

मिथ्याचेन्न तवास्ति दया, तत् किम्मां न हरे दयेसे ॥ ३ ॥

अर्थ—हे प्यारे प्रभो ! आप जानते हो, मेरा हृदय कितना चंचल और विक्षेप-ग्रस्त है। भगवन्, आपकी दयालुता सच्ची है। मेरे ऊपर भी अवश्य दया कीजिये ॥ ३ ॥

वाधन्ते भवसागरपा नानापापरुजानिवहाः ।

त्राणं धेहि वचः शृणु मे त्वं राजन् जगदीश हरे ॥ ४ ॥

अर्थ—हे भवसागरमें रक्षा करने वाले, नाना प्रकारके पाप और रोग पीड़ा दे रहे हैं। रक्षा करो। हे राजन्, जगदीश, हरे, मेरी टेर सुनो ॥ ४ ॥

बाहो वा यदि वान्तरिकः स्यात्तापो मम तात हरे ।

वेदार्थेन विचारजुशो मूलं नाशय तस्य गुरोः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे पितः, मुझे अन्दर और बाहिर ताप तपा रहा है । हे सच्चे गुरो, कृपा करो कि मैं वेद मन्त्रोंके अर्थोंके विचार तथा मननसे सारे सन्तापके मूलको नाश कर सकूँ ॥ ५ ॥

आनन्दामृतपुञ्ज न किम्मत्तापोपशमं कुरुपे ।

पुत्रे दुःखमथोपगते दृष्टो नैव पिता सुखयुक् ॥ ६ ॥

अर्थ—हे आनन्दामृतके पुंज, मेरा ताप क्यों नहीं हरते हो ? ऐसा तो पिता कभी नहीं देखा कि जो पुत्रको दुःखी देखता हुआ भी अपने आनन्दमें निमग्न रहे ॥ ६ ॥

ज्योतीष्याददते सततं त्वत्तो भासमथापि हरे !

चैत्तं मे न तमस्तदये नाशं याति तदापि कथम् ॥ ७ ॥

अर्थ—हे हरे ! सब सूर्य और तारे तुम्हाँसे प्रकाश धारण कर रहे हैं । पर कितने दुःखकी बात है कि मेरे चित्तका अन्धेरा नष्ट नहीं होता । भगवन्, कृपा करो, कृपा करो । प्रकाश हो, प्रकाश हो । पापका नाश हो । पुण्यका उदय हो । भगवन्, सच्ची भावनाएं पैदा हों । कुटिल वासनाएं शान्त हों ॥ ७ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

द्वितीय खण्ड ।

मथुरा शताब्दीका नायक ।

महात्माजीकी कुटियाका द्वार लगभग एक मास बन्द रहा । मायाराम तथा उसके साथियोंके जीवनमें अद्भुत पलटा

देखकर, सारा नगर महाराजका गुणानुरागी तथा भक्त बन चुका था । वे एकान्तसे प्यार करते थे, परन्तु यह भी चाहते थे कि शरीरको उपकारमें ही लगाये रखें । द्वारका खुलना था और लोग दर्शनोंको आने लग गये । सांझका समय तो विशेष भीड़का समय था । उन्होंने- सब प्रेमियोंके प्रेम-भरे भावका स्वागत किया और मुसकराते हुए बोले ।

महा०—सुनाओ, सज्जनो, क्या समाचार है ? पिछला मास कैसे बीता है ?

वस्तु०—भगवन् ! सब कुशल है । हृदयमें वियोगकी तीव्र ज्वाला भड़क रही थी । आपके दर्शन पाकर ऐसे प्रतीत होरहा है कि अमृतपान करके शान्ति लाभ कर रहे हैं । शताब्दी महोत्सवकी यात्रा कैसी रही ?

माया०—सुना है, मथुराके बाहिर दूसरी मथुरा बस रही थी । प्रान्त २ से लोग गये हुए थे । बड़े २ बाज़ार और चौक बने हुए थे । भीड़का क्या ठिकाना था ? कहते हैं, कई मील दूंबा जल्द स निकला । महाराज, क्या यह सत्य है ?

महा०—ठीक है । उस सप्ताहमें तो यह प्रतीत होता था कि सारा जगत् आर्य बन कर, अपने गुरु, महर्षि दयानन्द-सरस्वतीकी पवित्र स्मृतिको अपने हृदय-मन्दिरमें जागृत करनेके लिये वहाँ आ पहुंचा है । सब लोग ब्राह्म सुहृत्तमें उठ पड़ते थे । प्रातःकालसे लेकर आधी रात तक चहल पहल लगी रहती थी । भजन-कीर्तन और यशोंका क्या आनन्द बना हुआ था ! बड़ा मण्डप और उसके चारों ओर दूसरे मण्डप जनतासे खचाखच भरे रहते थे । कहीं साधु, महात्मा प्रचार कर रहे थे,

कहीं परिषद् लग रही थे और कहीं अन्य सभाएं होरही थीं । कालेजों, महाविद्यालयों और गुरुकुलोंकी विभूति भी पूरा पूरा प्रकाश कर रही थी ।

अन्त०—महाराज, इतने बड़े समारोहका मूल रहस्य क्या था ? वह क्या शक्ति थी जो इतने लोगोंको देश, विदेशसे घसीट कर वहां ले गई ?

महा०—क्यों, सत्यकाम, बोलो ।

सत्य०—भगवन्, यह एक निरालाही मेला था । दूसरी यात्राओंमें कोई मन्दिर, कोई नदी-तट, कोई गुफा, कोई पर्वत या कोई अन्य स्थान लक्ष्य होता है । परन्तु यहां सहस्रों नर, नारी भौतिक लक्ष्यके आकर्षणके बिना ही पहुंचे । इस बायुमें कोई शक्ति थी । यहां कुच्छ अनृटा प्रभाव था । न यह यमुनाका प्रेम था, न यह ब्रजके मन्दिरोंका सौन्दर्य था और न यह किसी कुटिया या भवनका चित्र था, जो इतनी जनताको वहां खैंच ले गया । सहस्रों लोगोंने न नदीमें स्नान किया, न मन्दिर देखे और न कुटियाएं दूराढ़ीं । महाराज, यहां तक तो मैं स्पष्ट देख रहा हूं । इसके आगे अभी कुच्छ और प्रेरणा सी प्रतीत होती है, परन्तु वह क्या है, यह कह नहीं सकता ।

महा०—सत्य है । शताव्दी-यात्रामें कोई भौतिक प्रेरणा न थी । यह मानसिक विचारका आकर्षण था । यह एक मनुष्यको दूसरे मनुष्यसे विशिष्ट बनाता है । स्वामी दयानन्दजी महाराजका शरीर अति सुडौल और सुन्दर था । परन्तु उस विशाल कायाके प्रतापसे खिचे हुए लोग मथुरा नहीं पहुंचे । जनता उनके विचारोंकी पूजा करती हुई उन्हें अपना गुरु मान चुकी है ।

अतः स्वामीजीके नामकी जब पूजा होती है, तो समझो कि उनके ऊंचे भावों और शुद्ध विचारोंकी पूजा होती है । प्रभु ने प्रत्येक शरीरके अन्दर एक सूद्धम् अन्तःकरणकी रचनाकी है । इसके द्वारा हम अपने अन्दर विचार पैदा करते, संकल्प विकल्प उठाते, भिन्न २ पक्षोंके सत्यासत्यका निर्णय करते, भूतकी बातोंका कोषकी भान्ति संग्रह करते, भविष्यतके कार्यक्रम बनाते और अन्दरही अन्दर सहस्रों आशाओंके पुल बांधते और तोड़ते हैं । नेत्र, श्रोत्र, नाक आदि बाहिरके करण हैं । हम सारे जगत्का अनुभव पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देखने, सुनने, संघने, चखने और ढूनेसे प्राप्त करते हैं । जिनके नेत्र नहीं, मानो उनकेलिये जगत्का पांचवां भाग नहीं रहता । उन्हें रंग विरंगके फूल, फल, लता, गुलम, पर्वतीय दृश्य, नदियों तथा निर्भरोंके मनोहर स्रोत, प्राकृतिक तथा कृत्रिम सुन्दर आकार, विशाल भवन और महल वैसे आकर्षित नहीं करते जैसे कि वे आँखोंवालोंको सहस्रों कोसोंसे खींच लाते हैं । अतः बाहिरकी इन्द्रियोंका शक्तिशाली होना जीवनके आनन्दकी पूर्णताकेलिये अत्यावश्यक है । ज्ञानेन्द्रियोंके साथ हाथ, पांव आदि कर्मेन्द्रियां भी हैं ।

नेत्र आदिके द्वारा बाहिरका जगत् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दके रूपमें हमारे अन्दर प्रतिविवित होरहा है । हम इससे दो प्रकारसे प्रभावित होते हैं । एक अवस्थामें प्रतिविव भनोहर प्रतीत होता है और बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है । दूसरी अवस्थामें प्रतिविवकी भयानकता बाह्य पदार्थोंमें अखंचि कर देती है । इस तरह प्रत्येक प्राणीके सामने ग्राह्य और त्याज्य संसार बनता चला जाता है ।

जिनके शरीर पुष्ट हैं, इन्द्रियां बलिष्ठ हैं, वे अपने पुरुषार्थसे ग्राह्य का ग्रहण तथा त्याज्यका त्याग कर सकते हैं । दूसरे निर्वल प्राणी यहां नाना प्रकारके कष्ट पाते हैं । सुन्दर प्रतिर्विव देखकर जी करता है कि अमुक वस्तु ले लें । परन्तु न पांव चलते हैं, न हाथ हिलते हैं । न पुरुषार्थ होता है, न धन आता है । पुरुषार्थके विनाकोई भी पदार्थ प्राप्त नहीं होता । पामर, पंगु, अपाहज, निहत्ये बनकर जीवन व्यतीत करना सचमुच नरकमें निवास करना है ।

लोक०—ठीक है, ठीक है । तभी तो आपने मथुरा जानेसे पूर्व शरीर के रक्षणके विषयमें वेद भगवान् का परम परम पावन सन्देश सुनाया था ।*

मा०—परन्तु प्यारो, जीवनकी पूर्णता अन्तःकरणकी पूर्णतापर निर्भर समझो । शताब्दी-महोत्सवकी सफलता पूर्ण अन्तःकरणके स्वामी, महर्षि दयानन्दजीकी विजय धोषणा है । मनुष्य शारीरिक बलसे मोहित होता है और प्रभुने महाराज दयानन्दको वह भी पर्याप्त दे रखा था । परन्तु मनुष्यकी वास्तव पूजा उसके आन्तरिक चमत्कारोंसे होती है । और स्वामी जीका जीवन इस सुन्दरताका भी बढ़ चढ़कर धनी था । शरीरको उन्नत न करना पाप है क्योंकि इस कार्यको करना तो पशु भी जानते हैं । मनुष्यका मुख्य लक्ष्य मानसिक तथा वैज्ञानिक विकास ही समझना चाहिए । इसी विकासके द्वारा ही वह पशु-पनसे ऊपर उठता है । मनुष्योंमें जो व्यक्ति इस विषयमें विशेष रूपसे बढ़ जाता है, वह जनताका पुज्य गुरु तथा नेता गिना

* वेद-सन्देश, प्रथम भाग के द्वितीय अध्याय की ओर संकेत है ।

जाता है । महाराज द्यानन्दके जीवनकी पवित्रता, संकल्पकी दृढ़ता, विचारकी विशालता, चिन्तकी उदारता, विश्वासकी स्थिरता आदि अनेक गुण उनके अन्तःकरणकी विभूति तथा महिमाका प्रकाश करते हैं । इसी लिये संसार शैः २ उनके जीवनसे परिचित होकर उनके चरणोंमें श्रद्धासे पूर्ण होकर मुक्ता चला जाता है ।

सत्य०—महाराज, अब सारी बात ठीक २ खुल गयी । शताव्दी महोत्सवका रहस्य समझमें आगया है । यह सारी अन्तःकरणकी ही महिमा है ।

वस्तु०—भगवन्, अब आप विश्राम करें । यात्राके कारण थकावट होरही होगी ?

माया०—महाराज, कोई सेवा हो, तो बतावें, ताकि हम भी कृतार्थ हो सकें ।

महा०—नहीं, सब ठीक है । समय पर आजाया करें । कलसे पहिलेकी तरह प्रतिदिन शाख-चर्चा हुआ करेगी । अब जाइए नमस्ते २ ।

सत्य०—पानी गर्म होकर आगया है । हाथ पांव धो लीजिए ।

महा०—बहुत अच्छा ।

तृतीय खण्ड

अन्तःकरणका स्वरूप

जो०—महाराज, कल जबसे मैं यहांसे गया हूँ, यही सोचता रहा हूँ कि जिस अन्तःकरणके विकासका आप वर्णन करते रहे

हैं, वह क्या है । सच तो यह है कि मुझे तो उसके होनेका भी निश्चय नहीं ।

महा०—तो, पहिले यही विचार लेना चाहिये ।

माया०—आपकी अनुमति हो; तो मैं इस विषयमें कुच्छ कहूँ ।

महा०—(प्रसन्न होकर) बहुत अच्छा ! आप भी तो सारी आयु वेदांत सुनते रहे हो । अवश्य कहियेगा ।

माया०—महाशय जी, अधिक सूच्म जानेसे क्या ? सब इन्द्रियद्वार खुले होनेपर भी एक समयमें एक ही प्रकारका संस्कार-ज्ञान होता है ।

लोक०—कृपया खोल २ कर स्पष्ट कहियेगा । मेरेलिये विषय नया है ।

माया०—बहुत अच्छा देखिये । आप कई बार अपने कार्यमें इतने लगे हुए होते हैं कि आपको अपने आस पास आते जाते लोगोंका कुच्छ पता नहीं रहता । यदि उस समय कोई किसीके विषयमें आपसे कुछ पूछता है, तो आपकी कोरी आंखें उसे सूखा उत्तर सुना देती हैं । यहां तक होजाता है कि मोटर आदिका शब्द भी सुनाई नहीं पड़ता । तनिक विचार तो करें कि इसका क्या कारण है ।

लोक०—हां होता तो अवश्य है । पर मैंने कभी इधर ध्यान नहीं दिया । शायद श्रोत्र उस समय काम न करते हों ।

माया०—नहीं, यह ठीक नहीं । वायुमें शब्दकी लहरें चलती रहती हैं । जहां कान खुले होंगे, वहां उनका अवश्य प्रभाव पड़ेगा । हां, जब सीसेसे उन्हें पूर दिया जावे या और कोई रोग आदि हो जावे तो दूसरी बात है ।

लोक०—यह हो सकता है, कि आत्मा एक समयमें एक ही प्रकारका ज्ञान प्रहण करना चाहता हो ।

माया०—बधाई हो । यह आत्मवादी कबसे बने ?

लोक०—भाई, ठीक २ उत्तर दो । उपहास वयों करतेहो ? जिन गुरुवरोंकी दयादृष्टिने तुम्हें मायावादके अन्धेरे कुर्से बाहिर निकाला है, उन्हींके उपदेशोंसे मैं भी निहाल हो रहा हूँ । अब मैं अपने आपको नित्य तत्त्व समझता हूँ । मैं शरीर नहीं हूँ ।

माया०—बड़ी प्रसन्नताकी बात है । त्तमा करना, मैंने चित्त दुखनेकेलिये उपहास नहीं किया था । अच्छा, सुनिये । आत्माकी शक्ति तथा सत्ता सकल देह को प्रभावित कर रही होती है । देखनेकी शक्तिसे रहित नेत्रोंमें भी भपकना आत्माकी शक्तिका परिचय देता रहता है । अब काले, पीले रंगोंके संस्कार अन्दर नहीं जाते । परन्तु तनिक कोई वस्तु चुमे, तो उसी समय स्पर्शका संस्कार अन्दर चला जाता है । इससे यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि आत्मा समान रूपसे सब इन्द्रियोंके संस्कार प्रहण करनेकेलिये तथ्यार रहता है । ज्ञान उसका धर्म है और सदा बीज रूपसे उसमें विद्यमान रहता है । बाहिरके संस्कारोंकेलिये उसे बाहिरकी इन्द्रियोंको साधन बनाना पड़ता है । इस लिये वह कठिनाई बनी रहेगी । अनेक द्वार खुले हों, फिर क्यों विशेष ज्ञान एक ही द्वारसे किसी समय अन्दर प्रवेश करता है ?

लोक०—संसारमें ऐसे भी तो मनुष्य होते हैं जो एक साथ कई कार्य कर लेते हैं । वे पुस्तक पढ़ते, बातें सुनते और करते और दूर से घड़ियालके शब्दोंको गिनते भी रहते हैं । इन भिन्न

भिन्न बातोंके संस्कारोंको आत्मा एक साथ ग्रहण करता जाता है । इस लिये आपका सारा कथन ही कच्चा पड़ जाता है ।

महा०—न लोकेश जी, यह ठीक नहीं । आपने पहिले ठीक प्रकारसे आरम्भ किया था । मायारामजी, आपने शास्त्रोंका अच्छा मनन किया है । मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ।

माया०—आपकी कृपादृष्टि ऐसी ही बनी रही, तो मैं भी एक दिन ऋषियोंके सामने मुंह दिखा सकूँगा । भगवन्, कुच्छ कालसे नित्य स्वाध्यायका मैंने व्रत धारण कर रखा है । भोजन तो न हो, पर इस नियममें विघ्न नहीं हो सकता । संस्कृत नहीं जानता, इस लिये उतना लाभ तो नहीं उठा सकता । पर, हाँ, आर्य विद्वानोंने बड़ा उपकार किया है । उनके भाव्यों तथा अनुवादोंने बड़ा सहारा दिया है ।

वस्तु०—और, वहाँ क्या करते हो, जहाँ एक परिणित कुछ अर्थ करता है और दूसरा कुछ ?

माया०—हाँ, यह बात तो ठीक है । पर मैंने अभी आरम्भ ही किया है । जब ऐसी समस्या आवेगी, प्रभु अपनी कृपासे कोई (महात्माजीकी ओर संकेत करके) आप गुरु भी मिलाही देंगे ।

महा०—नहीं २, वस्तुस्वरूप, घबरानेकी कोई बात नहीं । शास्त्रका एक बड़ा भाग ऐसा है, जिसके अर्थोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता । निरन्तर अभ्यासी शास्त्रोंके साधारण भावको स्वयं भी भाँप लेता है । फिर वार्तालाप तथा श्रवणसे भी कई गांठें खुलती हैं । जो पढ़ता ही नहीं, वह विद्वानोंके पास पहुँचकरभी कोई प्रश्न नहीं कर सकता । पढ़नेसे शंकाएं

उत्पन्न होती हैं और अधिक जाननेकेलिये मन तथ्यार होजाता है। सबको चाहिये कि इसी तरह संस्कृत अथवा आर्य भाषाको सीखें और स्वाध्यायका नियम धारण करें। यह विद्या तथा शास्त्रोंके प्रचारका उत्तम उपाय है। मायारामजी, बहुत अच्छा प्रयत्न है। क्यों, लोकेशजी, आपका प्रश्न ठीक हुआ, कि नहीं ?

लोक०—कुच्छु होगया, कुच्छु आपकी कृपासे होजावेगा।

महा०—बड़ा मोटा उदाहरण है, परन्तु इससे आप समझ जावेगे कि कैसे एक साथ अनेक ज्ञान नहीं हो सकते। यह लो, इस पुस्तकके चार पत्रोंको इकड़ा पकड़ो और एक ओरसे सुई मारो। भट्ट, दूसरी ओरसे उसका सिरा निकल आता है। सुईके मारने और उसके आर पार निकल जानेमें कोई समयका अन्तर प्रतीत नहीं होता। परन्तु थोड़ा सा विचार इस प्रतीति को मुठलानेकेलिये पर्याप्त होगा।

देखो, चारों पत्रोंके मध्यमें तीन अन्तर हैं। चाहे दो पत्रोंपर कितना भी भार डालो, वे एकजान नहीं बन सकते। दो परमाणुओंके बीचमें भी अन्तर रह जाता है। यह अन्तर छोटेसे छोटा भी क्यों न हो, सुईको उसमेंसे पार होनेकेलिये कुच्छु समय तो चाहिये ही। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे अन्तरमेंसे निकलते हुए सुई कुच्छु न कुच्छु समय लेगी। यह समय थोड़ा हो या बहुत हो, है तो सही। एक पग धरनेमें एक पल लगता है और योजन भर चलनेमें दो घड़ी समय बीत जाता है। दो घड़ीके सामने पल क्या है ? फिर भी वह अभावरूप नहीं गिना जाता। जिस प्रकार इन उदाहरणोंमें समय होता हुआ भी प्रतीत नहीं होता, ऐसेही

अति सूक्ष्म मन आनकी आनमें नेत्र आदि इन्द्रियोंसे जुड़ता और अलग हो जाता है । प्रतिक्षण ऐसा हो रहा है । कुच्छ मनुष्योंमें दूसरोंकी अपेक्षा इस जोड़ तोड़का अभ्यास अधिक पाया जाता है । हमें ऐसे प्रतीत होता है कि मानो, वे नेत्र, कान तथा वाणी आदिसे एकही समयमें कार्य कर रहे हैं । परन्तु वस्तुतः सुईके तीन अन्तरोंमेंसे एक साथ पार निकल जानेके समान इसे भी असंभव जानो ।

लोक०—यहतो खूब समझ लिया । तनिक और विस्तार करिये ।

महा०—बस, अब अन्तःकरणके माननमें क्या कसर रही ? नहीं तो यह समझमें नहीं आता कि क्यों आत्मा, इन्द्रिय और संसारके परस्पर जुड़े रहनेपर भी, कभी केवल रूपका और कभी शब्दका हमें ज्ञान हो । यदि ज्ञानके होनेमें यह तीनहीं कारण हैं, तो या तो सदा प्रत्येक प्रकारका ज्ञान बना रहना चाहिये और या कोई भी ज्ञान न होना चाहिये । परन्तु ऐसा होता नहीं । अतः या तो भट आत्मामें कोई निर्बलता होजाती है, या नेत्र आदि इन्द्रियोंमें विघ्न खड़ाहो जाता है । यह भी असंभव है । क्योंकि आत्मा नित्य, विकार रहित तत्त्व है और नेत्र आदिका भी अचानक ठीक न रहना और भट पीछे ठीक होजाना असंगतसा प्रतीत होता है । इस लिये ऋषियोंने आत्मा तथा इन्द्रियोंके बीचमें एक और माध्यम (Medium) माना है । इसीके जोड़ तोड़से ज्ञानकी उत्पत्ति और अनुत्पत्ति होती रहती है ।

अन्त०—हमारे सम्प्रदायमें तो इसे ही सब संस्कारों का आधार माना है। वाहिरका जगत् तो इसकी व्यायामात्र समझी जाती है।

सत्य०—तो क्या वह पुरानी चर्चा चलाने लगे हो ?

अन्त०—नहीं २ मनकी महिमाका केवल संकेत किया है।

लोक०—भगवन्, बड़ा सूक्ष्म विषय है। समझ तो आगया है। पर आज इतना ही रहने दीजिए।

माया०—महाराज, बहुत दिन होचुके हैं। आज आपके साथ मिलकर सन्ध्या करके जावेंगे।

सत्यकाम पानी ले आया। सबने हाथ पांच धोकर आचमन और इन्द्रिय-स्पर्श की विधि की और महात्माजीके साथ मधुर स्वरसे मंत्रोंका उच्चारण किया। तारे निकल चुके थे। सबने महात्माजीको और परस्पर नमस्ते की और अपने २ घरोंको चले गये।

चतुर्थखण्ड ।

मानसिक जगत् ।

वस्तु०—भगवन्, वाहिरके ज्ञानके संबंधमें तो अन्तःकरणकी आवश्यकता खूब समझली। अब कृपया इसके आन्तरिक स्वरूपको भी समझा दें।

सत्य०—महाराज, अभी सोचते २ मेरे मनमें भी एक शंकासी उठ रही है।

महा०—वास्तवमें विषय बड़ा सूक्ष्म है। मनका साज्जात्कार

किसी २ योग्युक्त महात्माको ही प्राप्त होता है । हाँ, कहिये, आपका सन्देह क्या है ?

सत्य०—महाराज, आपने एक बार बतलाया था कि आत्माका निवास हृदयमें होता है । इस लिये यह नहीं हो सकता कि वह नेत्र आदिके साथ वारी २ से संयुक्त होता हो ।

महा०—प्यारे, उस प्रकरण * का फिर विचार करो । वेदादि सच्चाख्योंमें आत्म-ज्योतिका केन्द्र हृदयको माना है । जैसे कमरेमें चमकते हुए दीपककी शिखापर विशेष प्रकाश होते हुए भी, सारा कमरा साधारणतया प्रकाशित होता है, ऐसेही हृदयमें आत्मा विशेष प्रकाश करते हुए भी, चैतन्यगुणके द्वारा सारे शरीरको नखाए पर्यन्त जीवन देरहा है † । योगी महात्मा प्रकाशके केन्द्रपर पहुंचनेका यत्न करते हैं । साधारण जनता साधारण जीवन-शक्तिसे ही अपना व्यवहार चलाती है ।

इसलिये आत्म-ज्योतिका नेत्र आदिसे वारी २ से संयोग मानना ठीक न होगा । इसकी किरणें सारे शरीरमें संचार करती हुई स्थान २ का समाचार आत्मा तक पहुंचाती हैं । देखो, एक दृष्टान्तसे पता लग जावेगा । एक अध्यापक पढ़ा रहा था । विद्यार्थी ध्यानसे सुन रहा था । आँखें खुली थीं, कान लग रहे थे । अचानक उसके पांवकी अंगुलीपर चींटीने काटा । खाज हुई । हाथ हिलने लगे । आँखें पुस्तकपर और कान अध्यापकके शब्दपर हैं । अध्यापक भट्ट प्रश्न कर देता है । लड़का

* देखो, वेदसन्देश प्रथमभाग, अ० १, उ० १, मन्त्र ३-५ की व्याख्या ।

† कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ४ । १९ ॥

घबरा जाता है । उत्तर नहीं दे सकता । पहिले वाक्य तो समाप्त हो चुका है, परन्तु खाजके समय वाला वाक्य उसके ध्यानमें नहीं आता । पहिले आत्म-प्रकाशकी किरणें और मन पाठमें लगे हुए थे । अब अकस्मात् मन खाजके केन्द्रकी ओर भागा हुआ है । आत्म-प्रकाश तो दोनों समय था, पर मन अब नहीं रहा । इस लिये शिष्य बाधित होकर मानता है कि “गुरुजी, मेरा मन त्तण भर खाज करनेमें लग गया था । कृपया फिर पढ़ाइए”* ।

सत्य०—सत्य है महाराज, विषयकी गंभीरता भुलाए डालती है । अब, वस्तुस्वरूपजीके प्रश्नकी ओर ध्यान कीजिएगा ।

महा०—बेटा, बाहिर और अन्दर, दोनों जगतोंमें मनकी आवश्यकता है । सुनो, एक आप-बीती वार्ता सुनाता हूँ ।

कुच्छ दिन हुए, एक नवयुवक मिलनेको आया । उसने बड़े प्रेमसे नमस्ते की । मैंने भी उसका स्वागत किया । धण्टा भर वह मेरे साथ अपनी पढ़ाई आदिके विषयमें बातें करता रहा । मैं यह सारा समय यत्न करता रहा कि उसका नाम तथा परिचय मेरी स्मृतिमें आवे, पर क्या कहूँ, मुझे न ही पता चला । उसकी ग्रांडें परिचित थीं, उसकी आकृति परिचित थी पर, तो भी उस समय मैं उसे पहचानन सका । सामने देख रहा था परन्तु बीते हुए समयका प्रत्यक्ष अब साथ मिलता न था । दूसरे दिन एक और महाशयने ज्योंही उसका नाम लेकर कुच्छ पूछा,

* विस्तारके लिये देखो दृ० उ० १ । ५ । ३ ॥ बड़ा सुन्दर और सरल वर्णन है ।

तो बस, भट्ट तीन वर्ष पहिले की सारी स्थिति सामने आगयी । भूत और वर्तमान प्रत्यक्ष मिल गये और पूरा ज्ञान होगया ।

अब सोचो कि आत्मा जैसा तीन वर्ष पूर्व था, वैसा ही अबभी है । उसमें कोई भेद नहीं हुआ, तो क्या कारण है कि उस लड़केको पहचानता हुआ भी, मैं न पहचान सका । इस लंबे कालमें उसका कोई संबंध न रहा था । नये संबंधोंसे नये संस्कार उत्पन्न होते रहे और वे पुराने संस्कार, न जाने, कौनसे कोनेमें धकेले गये । ऐसेही, और भी कई प्रकारके अनुभव होते रहते हैं । एक पदार्थको देखनेसे भय और लज्जाका भाव पैदा होता है । दूसरेसे प्रसन्नताका विकास होता है । कभी २ विना देखे या सुनेही, अन्दरही अन्दर, संशय और विचार उठते रहते हैं । अपने आप विचार ढीला पड़ जाता है, और भट्ट, पक्षाभी कर लिया जाता है । रात्रिको सोकर उठते हैं । अपने २ काममें लग जाते हैं । अचानक अन्दरसे प्रेरणा होती है । कोई अधूरा छोड़ा हुआ कार्य स्मरण करके, हाथमें लिये हुए कामको छोड़ कर, हम उसकी ओर लग जाते हैं । यह संशय, निश्चय, स्मृति, विचार आदि अन्तःकरणके द्वाराही होते रहते हैं । अभी आप समझ चुके हैं कि बाह्य जगत्के समस्त संस्कार प्रथम मनपर पड़ते हैं । और फिर आत्मा तक पहुंचते हैं । इस प्रतीतिके पीछे इन संस्कारोंकी एक रेखासी मनपर पड़ जाती है । ऐसी रेखाएं आठों पहर पड़ती रहती हैं । जहां संबंध गहरा होता है, वहां यह रेखाएं भी गहरी बनती हैं । कम संबंध वाली रेखाएं पतली रहती हैं । यह सारा कार्य भौतिक जगत्के समानही होता है, क्योंकि मनभी चेतनसे भिन्न, एक विचित्र भौतिक तत्त्व ही है ।

अन्त०—वास्तवमें जो आपने आरंभमें स्वप्नके संबंधमें बताया था,* वहभी अब पूरा २ स्पष्ट होने लगा है।

महा०—बिल्कुल ठीक। यही संस्कारोंकी रेखाएं, मानो, दूसरी बार प्रत्यक्ष कराती हैं। इसी तरह, जब हम पुरानी बातोंको स्मरण करना चाहते हैं तो मानो, मनस्थी कुण्डमें गोता लगाकर नीचे तहमें बैठे हुए पदार्थोंको ही ऊपर लाकर कहते हैं कि 'पहचान लिया। यह वह पदार्थ है'। लवण, कोइला आदिकी कानोंकी तरह, यहांभी तह पर तह जमी चली जाती है। एक २ को हम खोदते चले जाते हैं और इस प्रकार बीस २ वर्षकी बातोंको फिरसे स्मरण करके, मानो, दूसरी बार प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इस सारे कार्यक्रममें अन्तःकरणही मुख्य साधन है।

जीवात्मा अखण्ड, एकरस, ज्ञाता है। यह आपने पहिले भली प्रकार समझ ही लिया था। इसलिये भूलना या फिर स्मृतिका नया करना उसका अपना स्वरूप नहीं होसकता है। ऐसा माननेसे वह एकरस नहीं रहेगा। और देखिये, उन्माद आदिमें बिल्कुल विस्मृतिका होजाना मनको अलग माने विना समझमें नहीं आसकता। यदि स्मरण तथा ज्ञानका संस्कार सीधा आत्माकोही होजाताहो, तो एक पागलको क्यों नहीं होता? उसका आत्मा तो सब आस्तिकोंके मतमें विकाररहित रहता है। वस्तुतः जैसे आँख खराब होजानेसे मनुष्य विस्तृप्त होजाता है, ऐसेही मनकी विकलताका नाम ही पागलपन है।

*देखो, वेदसन्देश, प्रथमभाग (संस्करण दूसरा) पृष्ठ ३०-३३।

† इसका विस्तार वेदसन्देश, प्रथम भाग, अ० १, उ० १, म० ३ की व्याख्यामें देखो। कुम्भसंस्करण, मूल्य १॥

इसी तरह जितने और आन्तरिक कार्य होते हैं, उनमें भी मनकी आवश्यकता आप समझ सकते हैं। भय, शोक, लज्जा, सन्देह, शिथिलता, निश्चय, सन्तोष, प्रसन्नता, धैर्य आदि अनेक नामोंसे इसी मनकी वृत्तियोंका वर्णन किया जाता है। किसी २ विचारकने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारमें भेद माना है। परन्तु साधारणतया हम इन सबको अन्तःकरणके अन्दरही गिन सकते हैं। एकही पदार्थके वृत्ति-भेदसे अलग २ नाम पड़ जाते हैं।*

माया०—महाराज, क्या इस अद्भुत पदार्थके विषयमें वेदभी कुच्छ वर्णन करता है?

महा०—अवश्य। वेद सब सत्य विद्याओंका मूल-स्रोत है। उसीके संकेतों को लेकर, ऋषियोंने दर्शनों तथा उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें विस्तार किया है। अब कलसे इसी प्रकारके प्रकरणोंको लेकर, आपको वेद-सन्देश सुनाया करूँगा। मन बड़ा प्रबल पदार्थ है। इसके स्वरूपको ठीक २ समझ कर, जिन व्यक्तियोंने इसके बलको सफल किया है, वे स्वयंभी सुखी रहे हैं और उन्होंने दूसरोंको भी आनन्दित किया है। जहाँ हम शक्तिको अच्छे कामोंमें लगाते हैं, वहाँ उससे बढ़कर बुरे कामोंमें नष्टभी करते हैं। वेद भगवान् का यह सन्देश है कि मनुष्य अपने मनोरथोंको पवित्र बनावे। अस्तु, आज इस चर्चाको यहीं छोड़ते हैं। चलो, नदी-तीर पर पहुंचकर नित्यकर्मका पालन करें।

यह कहकर महात्माजी बाहिर जानेकी तयारी करने लगे। सत्यकामने उनका आसन आदि उठा लिया। कुच्छ अपने घरोंको चले गये, शेष साथ हो लिये।

*शास्त्रीय वर्णनके लिये देखो, ख० ३० १।५।३ ॥ वेदान्त० २।३।३॥

पंचम खण्ड

मानस-सरोवर ।

—६३३—

सत्य०—गुरुजी, कल सायंको नदी-तीर पर क्या आनन्द था । चन्द्रकी मीठी और शीतल चान्दनी शान्त जल-तलपर क्या अलौकिक सौन्दर्य उत्पन्न करती थी ! उस पवित्र वेलामें, एकान्त निर्जन स्थानमें कैसी शान्तिका साम्राज्य था ! भगवन्, चित्त अपने आप भगवानके चरणोंमें झुकता जाता था ।

महा०—वेटा, सत्य है । ऐसी परिस्थितिमें ही रह कर मनुष्य प्रभुकी अद्भुत महिमासे प्रभावित होता है । खुला आकाश, चन्द्रका प्रकाश, वेल, बृद्धोंपर पुष्पोंका विकास, निर्मल जलके शान्त प्रवाहमें छोटी २ तरंगोंका विलास मृतप्राय हृदयमें उल्लास पैदा करनेके लिये कुच्छ कम सामग्री है ? सच्तो यह है कि नगरोंके जमघटमें पड़े २ सड़नाही हैं । इस सड़ांदका अनुभव तभी होता है, जब हम कुच्छ समयके लिये इन तंग गलियों और कुच्चोंसे बाहिर, दूर निकल कर खुली बायुमें सांस लेते हैं । वहाँ जाकर जैसे भूमि और आकाश मिलते हुए दिखाई देते हैं, ऐसेही हमारे अपने तुच्छ, संकुचित जीवन भी अपने आप भगवानकी विशालतामें लीन होने लग जाते हैं ।

माया०—ऋषियोंकी कितनी दूरदर्शिता थी कि उन्होंने प्रतिदिन ब्राह्ममुद्भृत्यमें उठ कर बाहिर इसी प्रकारके स्थानोंपर

जाना प्रत्येक मनुष्यकेलिये धर्म बना दिया * । वहां तो वस्तुतः अपने आपही ध्यान एकाग्र होने लग जाता है ।

महा०—प्यारो, सुनो, इस सारी बातको वेद कितनी सुन्दरतासे बरांन कर रहा है ।

(१) उपहूरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ।

धिया विप्रो अजायत ॥ यजु० २६ । १५ ॥

अर्थः—(गिरीणां) पर्वतोंके (उपहूरे) एकान्त स्थानमें (च) और (नदीनां) नदियोंके (संगमे) संगम पर [जाकर] (धिया) ध्यानद्वारा [मनुष्य] (विप्रः) विस्तृत बुद्धिवाला (अजायत) हो जाता है ॥ १ ॥

सत्य०—महाराज, वास्तवमें यही बात है । रात्रिको निरालाही आनन्द था ।

महा०—प्यारो, वह चान्द और वह नदी तुम्हारे अन्दरभी है ।

लोक०—क्या, महाराज ?

महा०—मैंने कहा, हमारे अन्दरभी एक नदी वह रही है । उसमें कई नदियोंका पानी पड़ता और कई बार बाढ़ ला देता है, पर जब प्रवाह शान्त और निर्मल होता है, तो वह चान्दकी चान्दनीमें चान्दीका रूप धारण किये होता है ।

उप०—महाराज, तनिक खोल कर कहिये । यह सुनकर तो मेरा उपराम भी चौंक पड़ा है ।

* अपा समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।

सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥ मनु० २ । १०४ ॥

महा०—सुनो,

(२) पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्नोतसः ।

सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत् सरित् ॥

यजु० ३४ । ११ ॥

अर्थः—(पञ्च) पांच (नद्यः) नदियाँ (स-स्नोतसः) प्रवाह-सहित (सरस्वतीं) सरस्वतीमें (अपि-यन्ति) लीन होती हैं । (उ) और (सा) वह (सरस्वती) (तु) फिर (पञ्चधा) पांच प्रकार [के प्रवाहोंसे भर कर] देशमें (सरित्) [बहती हुई] नदी (अभवत्) बन जाती है ॥ २ ॥

प्यारो, पिछले दोनों दिन इसी सरस्वतीका ही तो वर्णन होता रहा है । यह देश हमारा शरीर ही है । उसके अन्दर पांच ज्ञानेन्द्रियाँ अपने २ जल लेकर दिन रात इस मानस सरोबरमें डाल २ कर इसे बहती हुई नदीका रूप दे रही हैं । यह कभीभी न रुकने वाला प्रवाह है । समय आता है जब रूप, गन्ध आदि इसमें बाढ़ पैदा कर देते हैं । यह किनारोंको तोड़ने लग जाता है । समय आता है, जब यह निर्मल और शान्तरूपमें बहता हुआ, आत्म-रूपी चन्द्रके प्रकाशको प्रतिबिंधित करता है ।

लोक०—आपका भाव यह हुआ कि अन्तःकरण एक प्रकारसे बड़ी भारी नदीके समान है ।

महा०—सरस्वतीका भावही यही है । मन बड़ा वेगवान् है कभी ठहरनेमें नहीं आता । यही मानसिक सरस्वती सब विद्या और विज्ञानकी खान है । इसको विकसित करने और उपयोगमें लानेसेही मनुष्य बड़ा बनता है । ऐसा करनेसेही वह मनुष्य नामको धारणा करनेका अधिकारी होता है ।

(३) मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन ।

पितृणां च मन्मभिः ॥ ऋक् १० । ५७ । ३ ॥

अर्थः—(नाराशंसेन) मनुष्योद्धारा स्तुति करने योग्य (सोमेन) सोम (च) तथा (पितृणां) ज्ञानवृद्धोंके (मन्मभिः) मानयोग्य [गुणों] के द्वारा (नु) शीघ्र (मनः) मनको (आ-हुवामहे) [धारण करनेके लिये] ललकारते हैं ॥ ३ ॥

सोम ओषधियोंका सार है । शारीरिक विकासका मुख्य साधन है । अतः प्रशंसाके योग्य है । सोये हुए बलको प्रेरित करके, मुरदा मनुष्योंको भी खड़ा कर देता है । सोम चन्द्रको भी कहते हैं । उसमें भी प्रेरणा-शक्ति अति अधिक पायी जाती है । सोम प्रेरणाके मूल-स्नोत परमेश्वर को भी कहते हैं । प्रेरणाका योग हो और विद्वानोंका उपदेश हो, तो मनकी शक्ति का पता चलता है और मनुष्य उसे धारण करनेके लिये उत्सुक होता है । परन्तु उसे विश्वास रखना चाहिये कि मनोबल बाहिरसे नहीं आता । अन्दर छिपा पड़ा है । उसे ललकारो और वह उठ खड़ा होगा ॥

(४) आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।

ज्योक् च सूर्य दशे ॥

—४ ॥

अर्थः—[हे साधक] (ते) तेरा (मनः) मन (पुनः) फिर (आ-एतु) चारों ओर से प्राप्त हो [ताकि दृ] (क्रत्वे) संकल्प (दक्षाय) बल (जीवसे) जीवन (च) और (सूर्य) सूर्यका (दशे) दर्शन (ज्योक्) सदा [धारण कर सके] ॥ ४ ॥

मन कहीं चला नहीं गया होता । विकासके संस्कार द्व जाते हैं और मनुष्यको न सूर्य आदि भौतिक शक्तियोंसे लाभ पहुंचता है और न वह अपने आपको बलवान् समझता है । संकल्प दुर्बल हो जाता है और वह निर्जीव सा प्रतीत होता है । उसे चाहिये कि इस दुर्दशाको परे धकेलकर नया जीवन धारण करे । फिर प्राकृतिक तथा मानसिक शक्तियोंका विकास हो और लोकोपकारके लिये बल और संकल्प पैदा हो ।

माया०—महाराज, जीवनका मुख्य चिह्न क्या है और उसको प्राप्त कैसे करें ?

महा०—बेटा, अभी कहा है कि मानसिक गतिका अधिक होना ही जीवनका मुख्य चिह्न है । इसकी प्राप्तिसे ही हमारा मानव-देहका धारण करना सार्थक हो सकता है । नहीं तो, शेष पशुओंसे हमारा किस बातमें विशेष होगा । इस मानसिक वेगके अनेक प्रकाश हैं । ज्ञान, विज्ञान, वाग्मिता और स्फूर्ति इसीके रूपान्तर हैं । इन गुणोंका लाभ योग्य, धर्मात्मा, आप पुरुषोंके सत्संगसे होता है । वेदने अगले मन्त्रमें इन्हीं दोनों बातोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया है । सुनो,

(५) पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।

जीवं ब्रातं सचेमहि ॥

—५ ॥

अर्थः—हे (पितरः) विद्याविज्ञानके रक्तक बृद्ध पुरुषों, [समाजमें ऐसा प्रबन्ध करो कि] (दैव्यः) विद्याव्वारा प्रकाशित, देवता-स्वरूप (जनः) विद्वद्वर्ग (नः) हमें (पुनः) फिर [निद्रासे जगाकर] (मनः) मनन-बलको (ददातु)

प्रदान करे [ताकि] (जीव) जीते जागते (ब्रातं) [मानव-] समूहके साथ (सचेमहि) [हम भी] शामिल हों ॥ ५ ॥

सत्य०—गुरुजी, जब यह मानस-सरोबर सदा हमारे अन्दर मौजूद रहता है, तो फिर इसकी प्राप्तिका क्या अर्थ ? दूसरे, वह उपाय क्या है, जिससे कि एक बार प्राप्त हुआ २ यह कोष नष्ट न होने पावे ।

महा०—बैठा, दो प्रकारसे प्राप्त वस्तु अप्राप्त-समान बन जाती है । प्रथम, हम स्वयं अशक्त होकर उसका उपयोग न कर सकें । दूसरे, वह वस्तु ही विकार-युक्त होकर उपयोगके योग्य न रहे । शीतल जल बड़ा शक्ति-दायक गिना गया है ; परन्तु ज्वरके चंगुलसे अभी २ निकले हुए, दुर्बल व्यक्तिको उसके किनारे पर खड़ा करके बख्त उतार कर कुदनेके लिये कह तो देखें । और, देखो । प्यासका रोकना ठीक नहीं । परन्तु समुद्रके किनारे बैठा हुआ प्यासा मनुष्य क्यों चुल्ह भरकर पानी पी नहीं लेता ? वहां अशक्ति और यहां खारापन, सामने होती हुई वस्तुको निरर्थक कर रहे हैं । इसलिये निर्बल शरीर, निर्बल इन्द्रियां, निर्बल आत्मा इस मनसे सुखके स्थानपर दुःख ही पाते हैं । और, इसी तरह दुर्बल मन बड़ेसे बड़े शूरवीरको भी एक पग आगे नहीं बढ़ने देता । इस रोगका उपाय शारीरिक, मानसिक और आत्मिक व्रतों और नियमोंका पालन करना ही है । जिस जातिमें इन बातोंका मान है, वहां निरन्तर विद्या, विज्ञान बढ़ते हैं और लोग सुखी रहते हैं । उनकी प्रजा बढ़ती है और संगठनका विकास होता है । इस विषयमें वेद क्या सुन्दर उपदेश करता है ।

(६) वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु विभ्रतः ।

प्रजावन्तः सचेमहि ॥ —६ ॥

अर्थः—हे (सोम) (वयं) हम (तव) तेरे (व्रते) नियमानुसार (तनूषु) शरीरोंमें (मनः) मानसिक बलको (विभ्रतः) धारण करते हुए (प्रजावन्तः) प्रजासे युक्तहो कर (सचेमहि) संगठित होवें ॥ ६ ॥

भौतिक-सोमका व्रत शारीरिक मर्यादाकी रक्षा है । प्रेरणा के मूल, आत्मिक सोमका व्रत धार्मिक मर्यादाकी रक्षा है । दोनों मर्यादाओं की रक्षा से ही सर्वप्रकार का मानसिक बल बढ़कर व्यक्ति तथा समाजकेलिये हितकारी होता है । इस लिये, प्यारो, इस उपायका सहारा लेकर मनको जगाओ, और समृद्धि उन्नति करो । प्रकाशमान परमात्माका सहारा इस भावसे युक्त हो कर लो, कि तुम्हारा मन प्रकाशसे युक्त हो जावे ।

(७) स तेजीयसा मनसा त्वोत उत शिक्ष स्व-
पत्यस्य शिक्षोः । अग्ने रायो नृतमस्य प्रभूतौ भूयाम ते
सुषुद्धतयश्च वस्तः ॥ ऋक० ३ । १६ । ३ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप भगवन्, [जो] (त्वोतः) तेरी कृपाका पात्र हो जाता है, (सः) वह (तेजीयसा) अति तेजस्वी (मनसा) मनसे [युक्त हो जाता है] (उत) और (स्वपत्यस्य) अच्छ्री सन्तान वाले (शिक्षोः) दानशीलको (शित्र) दो, (नृतमस्य) उन्नतिकारक (रायः) सम्पत्ति के

(प्रभूतौ) प्रभावमें (भूयाम) रहें (च) और (तेऽत्तोऽवामः)
येश्वर्यके (सु-स्तुतयः) कीर्त्ति-गायक [बने रहें] ॥ ४७ ॥

प्रभुकी भक्ति, दानशीलता, शिक्षादिकारा सन्तानको उन्नत करना, निरभिमान हो कर येश्वर्यको भले कार्यों में लगाना प्रभुके प्रसादका मूल है । और, उसका फल तेजस्वी मनकी प्राप्ति है । प्रभुकी महिमाको गाते रहना अपने मनको उन्नत करना है । ऊंचे विचार ही सदा सामने रहने चाहिये ।

(८) यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य वातिरुणं वृह-
स्पतिमें तदधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

यजु० ३६ । २ ॥

अर्थः—(मे) मेरे (चक्षुषः) नेत्र [आदि बाह्य इन्द्रियों]
(हृदयस्य) हृदयका (यत्) जो (छिद्र) दोष [हो] (वा)
या [जो] (मनसः) मनकी (अतिरुणं) व्याकुलता [है]
(तत्) वह (मे) मेरी [त्रुटि] (वृहस्पतिः) सब विद्याका
पालक (दधातु) पूर्ण करे । (यः) जो (भुवनस्य) ब्रह्माण्डका
(पतिः) रक्षक [है, वह] (नः) हमारे लिये (शं) कल्याण-
कारी (भवतु) हो ॥ ८ ॥

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें कोई न कोई त्रुटि पायी ही जाती है । सच पूछो तो मनुष्य-जन्म मिलता ही इस लिये है कि इन त्रुटियोंको पूरा करके अपने वास्तव लक्ष्य तक पहुंच सकें । इसलिये साधकको उचित है कि सकल विज्ञानके स्वामीका सदा ध्यान करता हुआ, बुद्धिको बढ़ावे और अपनी न्यूनताओंसे ऊपर उठे ।

उप०—परमात्मा तो कल्याणस्वरूप है ही । फिर इस प्रार्थना से क्या लाभ ?

महा०—वेदा, यह ठीक है कि प्रभु हमारा सच्चा रक्षक है । परन्तु हम अपनी स्वाभाविक अल्पज्ञता से कई बार अहितको हित; अर्कमें को कर्म समझ कर उसमें लग कर दुःख पाते हैं । उस समयके हीन संस्कारोंसे, मानो, हमारा सारा जीवन छिद्रमय होने लगता है । भगवानकी आराधनासे पुनः अपने स्वरूपका बोध होने लगता है । यही मानसिक पूर्णताका परम साधन है ।

लोक०—महाराज, इस अल्पज्ञताका भी कोई उपाय है ?

महा०—वेद का यही सन्देश है कि विज्ञानमयी सरस्वतीका नित्य अमृतपान करते रहो । सच्चा आर्य सदा ज्ञानका प्रकाश चाहता रहे । देखो, वेद सरस्वतीकी महिमाका कैसे विस्तार करता है ।

(९) यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा
वसुविद्यः सुदत्रः । येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति
तमिह धातवेऽकः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ यजु० ३८ । ५ ॥

अर्थः—हे (सरस्वति) (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः)
स्तन (शशयः) [सबका] आश्रयभूत [है,] (यः) जो
(मयोभूः) कल्याणकारी, (यः) जो (रत्नधा) रत्नोंको धारण
करनेवाला, (यः) जो (वसुविद्य) पेश्वर्यको प्राप्त करने
वाला (सुदत्रः) अच्छा दानकरनेवाला है [और] (येन)
जिसके द्वारा [द] (विश्वा) सब (वार्याणि) स्वीकार करने
योग्य पदार्थोंको (पुष्यसि) पुष्ट करती हो (इह) यहां (तं)

उसे (धातवे) चूसनेकेलिये (अकः) प्राप्त कराओ, [ताकि मैं ज्ञानामृतका पान करके] (उह) विस्तृत (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्षके (अनु-एभि) सदृश होजाऊं ॥ ६ ॥

कितने महत्त्वसे पूर्ण यह वर्णन है । संसारमें जो भी प्रहरण करने योग्य धन, बल, ऐश्वर्य और गुण आदि हैं, उन सबका मूल साधन सरस्वतीका पान करनाही है । ज्ञानके दुर्घटसे ही अन्तरिक्षके समान साधकका हृदय विकसित होसकता है ।

सत्य०—यह बात नहीं समझा ।

महा०—प्यारे, अन्तरिक्षके विस्तारका विचार करो । देखो, कितने लोकों और जीवोंका यह आधार बना हुआ है । सबे विद्वान् का हृदय विश्व-व्यापिनी सहानुभूतिसे पूर्ण होजाता है और उस विशाल हृदयमें, मानो, सब प्राणियोंके लिये स्थान बन जाता है । वह ज्ञान ज्ञान नहीं, जो इस प्रकार आत्माको विशाल नहीं बनाता । इसी विशालताको धारण करता हुआ उपासक प्रभुका प्यारा बनता है ।

(१०) यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यदृ याचमानस्य
चरतो जनाँ अनु । यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती
तदापृणद् धृतेन ॥ अर्थव॑ ७ । ५७ । १ ॥

अर्थः—(यत्) जो (आशसा) आशापूर्वक (वदतः) कहते हुए (यत्) जो (याचमानस्य) मांगते २ (जनान्-अनु) लोगोंमें (चरतः) फिरते हुए (मे) मेरे [अन्दर] (विचुक्षुभे) व्याकुलता पैदा होती है, (यत्) जहाँ (मे) मेरे (तन्वः) अपने

(आत्मनि) स्वभावमें (विरिणु) हीनता [होती है,] (सरस्वती) (तत्) उसे (शृतेन) शृत से (आपृणत्) पूर्ण करे ॥ १० ॥

दीनताका जीवन महापाप है । दूसरोंकी दयाकी और आशापूर्वक देखना, उनसे मांगना और चापलूसी करना निन्दनीय कर्म हैं । वेद स्पष्ट उपदेश कर रहा है कि ऐसा कर्म अशान्ति पैदा करता और स्वभावको हीन तथा तुच्छ बनाता है । साथही उपायभी बतलाता है । सरस्वतीका आश्रयही सारे दरिद्र-भावको दूर कर सकता है । जैसे धी पचाकर शरीर पुष्ट किया जासकता है मानसिक विकासके लिये और तुच्छताके नाशके लिये सरस्वतीका धारण करना, मानो, शृतद्वारा पुष्ट होना है ।

सज्जनो, इस प्रकार यह मानस सरोवर हम सबके हृदयमें ठाठें मार सकता है । साधारण लोगोंको इसकी शक्तिका ठीक २ अनुभव नहीं होता । मानसिक योगके सिद्ध करनेवाले महात्मा इसी शक्तिके आधारपर अलौकिक चमत्कारोंको करते हैं । हमें यदि यह निश्चय होजावे कि शरीर-बलसे सहस्रों गुण बलका स्रोत अन्दर मौजूद है, तो फिर हमभी उत्साहसे पूर्ण होकर उसकी सिद्धिके लिये यत्न कर सकते हैं, क्योंकि यह एक गुप्त रहस्य है, इसलिये साधारण जनताकी इधर प्रवृत्ति नहीं होती । परन्तु जीवनकी पूर्णता तभी होगी, जब यह अंग पूर्णतया उन्नत होगा । वैदिकधर्मका यह महान् उपकार है कि इसने इस प्रकार इस गुप्त कोषको खोलनेका सन्देश दिया है वैदिक ऋषि ज्ञान, विज्ञान और विद्याके भक्त हुए हैं ।

वस्तु—यह तो नयाही प्रकरण चला है । अब आंखें बद्ध करके ध्यान करना होगा ।

महार—घबराओ नहीं । बाहिरकी आंखोंके पीछे जो मानसिक आंख है, उसेभी खोलो । कोई आंख बन्द मत करो । बाहिरको अन्दर और अन्दरको बाहिर देखो ।

जाओ, इन बातों पर विचार करो । कल पुनः आपको सुनाऊंगा कि किस प्रकार विद्या द्वारा सोये हुए मनको जगाना चाहिये ।

समय अधिक होनुका था । सब भक्तोंने प्रेमसे नमस्ते की और उन पवित्र विचारोंको साथ लेकर अपनी २ राहली ।



साधक की आत्म-चेतावनी ।

वियापितं प्रगेतनं विहारिणा त्वया वयो, मदोत्कटेन
यौवनं रतौ रतेन धिग्नवम् । प्रणाशतीरवर्तिनोऽपि पूर्ववत्
प्रदाहिनो, रुचिरं धर्मकर्मणि प्रजायते कर्थं तव ॥ १ ॥

अर्थः—ओरे ! तूने खेल कूदमें बालकपनकी अवस्था
खो दी, उन्मत्त होकर रति में लगे हुए यौवनको भी वस्तुतः
खो दिया, धिक्कार है, परं क्या कारण है कि मृत्युके समीप पहुंच
कर भी तू उसी तरह विषयोंकी अग्निसे जलता है और धर्म कर्ममें
तेरी रुचि नहीं पैदा होती ॥ १ ॥

दरिद्रदानपोषणं शरण्यपालनं सदा, खयम्भुपादयो रतिः
स्वधर्मलग्नता नृणाम् । सुखं करोति दुःखमातनोति कर्म निन्दितं,
कृतिहिं पुण्यपापतः प्रभावयेत्तनूभृतः ॥ २ ॥

अतो मनुष्य साधक ! प्रवर्त्तनामनागसि, प्रयत्नतस्त्वमातनु-
परोपकारयुग्मव । वृथान्यपीडनं त्यज दयादिभावसंयुतः,
कियन्ति सन्ति भूतले प्रवृद्ध्यसे दिनानि ते ॥ ३ ॥

अर्थ—दरिद्रोंके दान और पालनसे शरणमें आये हुओंकी
रक्षासे, भगवान्के चरणोंमें प्रेमसे और स्वधर्मके आचरणसे
मनुष्यको सुख होता है । निन्दित कर्म दुःखका कारण है । पुण्य,
पापके स्वरूप बाला अपना कर्मही प्राणियोंका नियामक है । अतः,
हे साधक ! पापसे बच । परोपकारी बन और पुण्यमें रुचि पैदा
कर । दयालुहो और दूसरोंको वृथा मत सता । तुम्हें क्या पता,
कितने दिन और तूने इस पृथिवीपर रहना है ? कमर कस ले
और मनके स्वरूपको समझते हुए, अपने अन्दर सरस्वतीको
जगा, ताकि कल्याणहो ॥ २, ३ ॥

अथ सरस्वतीजागरणो नाम
द्वितीय उच्छ्वासः ।

प्रथम खण्ड

बुद्धि की प्रेरणा ।

लोक०—महाराज, कल सायंकालसे मैं अपने अन्दर एक विचित्र प्रेरणासी अनुभव कर रहा हूँ ।

महा०—हाँ, बेटा, कहो । क्या बात है ?

लोक०—आपके साथ मिलनेसे पूर्व मैं समझता था कि धर्म बखेड़ों और भगड़ोंका नाम है । हर एकको अपने गुरुकी महिमा तथा पूजाकी चिन्ता लगी रहती है । अन्य विश्वास और मिथ्या भावनाओंके आधारपर लोग कुच्छका कुच्छ मानने लग जाते हैं । परन्तु आपके सत्संगने प्रबल नदी-प्रवाहकी तरह मेरे मानसिक किनारोंको तोड़ना आरंभ कर दिया है । कलसे तो मैं विल्कुल हिल गया हूँ ।

सत्य०—क्यों, भ्राताजी, कल विशेष क्या घटना हुई ?

लोक०—वेदके अन्दरसे मनकी महिमा तथा ज्ञानकी प्रशंसा सुनकर तो मेरा रहा सहा अविश्वास भी चला गया है । मैं पहिले समझा करता था कि धर्मसे अभिप्राय यही होता है कि मनुष्य तिलक, छाप, माला आदिको धारण करे । लंबी धोती लगाकर 'नाम जपो, भाई, नाम जपो', 'राम २, भाई, राम' रटता हुआ इधरसे उधर और उधरसे इधर दो चार बार धूमे और लोग उसे भक्तजी, भक्तजी कहें । मेरा यह विश्वास था कि विद्या और विज्ञानके भक्तोंको अपनी कुटिया अलगही बनानी पड़ती

है । परन्तु कल तो यहांसे जाकर मेरी विचित्रही दशा थी । रातको सोये २ भी मैं महात्माजीके स्वप्न देखता रहा और मुझे कई बार प्रतीत होता था कि मैं किसी मन्दिरमें सरस्वती माताका दूध पीरहा हूँ ।

महा०—ऐसा होना ही चाहिये था आप लोगोंने वेदके पवित्र सन्देशको सुने विना ही कई प्रकारके भ्रम मनमें पैदा कर लिये होते हैं । यह ठीक है, दिखावेका स्वांग बहुत है । प्रत्येक धर्मके अन्दर लोग ऊपर २ तैरनेवाले अधिक मिलेंगे । परन्तु सर्वत्र कुच्छ न कुच्छ तत्त्वकी बातभी होती है, जिसे अच्छे परीक्षक समझते और अच्छे साधक आचरणमें लाते हैं । वेदका धर्म इसी लिये पूर्ण है कि इसमें लोक और परलोक, दोनों प्रकारके जीवनके विषयमें पूर्ण उपदेश है ।

लोक०—किस तरह, महाराज !

महा०—प्यारे, इससे पूर्व तुम सूद्धम तत्त्वोंका वर्णन सुन चुकेहो । शरीरके विषयमेंभी पूर्ण उपदेश सुन चुकेहो । भला, सोचो तो सही, इन सूद्धम बातोंको ग्रहण करनेके लिये कितनी बुद्धि और कितनी विद्या चाहिये । इसी बुद्धिके आधारपर लोकमें पेशवर्य प्राप्त होता है । इसीके ही सहारेसे आत्माके गुप्त रहस्योंका परिचय होता और मनुष्य मार्ग, कुमार्गको पहचानकर, अच्छे मार्ग पर चल सकता है । वेदकी पूर्णता इस बातमें है कि यह केवल शरीरको पुष्ट करना या आत्माका स्वरूपही केवल नहीं बताता, बरन् शरीरपर राज्य करनेवाली और आत्मज्ञानमें परम सहायक बुद्धिको बढ़ाने और पवित्र बनानेकोभी आवश्यक बताता है ।

वेदका धर्म विद्याका शत्रु नहीं । यह विद्याका परम सहायक है । देखो, हमारा गुरु-मंत्र क्यों मुख्य मंत्र समझा जाता है । एक बालकको आर्य बनाते हुए, उसके कानमें किसी प्रकारकी गुप्त लीला नहींकी जाती । उसे किसी मनुष्यमें ऐसेही अद्वाके लिये नहीं कहा जाता । क्या किया जाता है ? यज्ञोपवीत देता हुआ, गुरु इस मंत्रका उपदेश करता है ।

(१) तत्सवितु वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ११ ॥ यजु० ३ । ३५ ॥

अर्थ—[हमें चाहिये कि हम] (सवितुः) [सर्व संसारको] उत्पन्न करनेवाले (देवस्य) प्रकाशमान [परमात्मा] के (वरेण्यं) वरने योग्य (भर्गः) तेजका (धीमहि) ध्यान करें (यः) जो [प्रभु] (नः) हमारी (धियः) बुद्धियोंको (प्रचोदयात्) विशेष-रूपसे प्रेरित करता रहे ॥ १ ॥

सच जानो, वेद-सन्देशका यह सार है । उस नन्देशे बालकको उपदेश होता है कि 'हे बालक, नित्य प्रभुके तेजसे अपने मानसिक अध्येरेको दूर किया करो । नित्य प्रभुसे यही वर मांगा करो कि हमारी बुद्धि बढ़े । बुद्धिकी उन्नतिसे ज्ञानका दीपक प्रकाशित होता है । ज्ञानसे आत्माकी निद्राभी समाप्त होने लगती है । चारों ओर जागृतिही जागृतिका अनुभव होने लगता है । क्यों, सत्यकाम, गायत्री मंत्रका महत्त्व समझा ?

सत्य०—गुरुजी, मुझे इस प्रकारसे पहिले नहीं सूझा था । वास्तवमें वेदका सन्देश ज्ञानका सन्देश है । वेदका उपासक ज्ञानका उपासक है । वेदका धर्म ज्ञानका धर्म है । अब मुझे

समझ आई है कि क्यों आर्यावर्त्तमें, जोकि सहस्रों शताब्दियों तक वैदिक ज्ञानका स्रोत रहा है, मतभेद और धर्मके नामपर अन्य देशोंके समान रुधिर-पात नहीं किया गया । यह मातृभूमि इस पापमयी हत्यासे दूषित नहीं हुई ।

महा०—कदाचित् तुम्हें पता न हो, हमारे वैदिक ऋषियोंने तर्क अर्थात् ज्ञानपूर्वक परीक्षणको साक्षात् ऋषि माना है । इसे धर्मके मर्म जाननेके लिये परम सहायक समझा है* । ऋषियोंने बुद्धिकी इस महिमाको वेदहीसे समझा था । सुनो, वेद क्या कहता है ।

(२) त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरज्वेभिरागहि ।

त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥ १२ ॥

अर्थव० ६ । १०८ । १ ॥

अर्थ—हे (मेधे) वेदादि सत्यविद्याओंको धारण कर सकने वाली बुद्धि देवि (त्वं) तु (गोभिः) गौत्रों (अश्वेभिः) घोड़ोंके

* “मनुष्या वा ऋषिष्यकामस्तु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति तेष्य पृतं तर्कमृषिं प्रायच्छल् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूदम् । तस्मादेव किं चानूचानोऽभ्युहत्यार्थं तद् भवति ॥ निरुक्त, १३ । १२ ॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥ मनु० २ । ८ ॥

न ह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।

भनसा दीपभूतेन महानात्मा प्रकाशते ॥ महाभारत, शान्ति० २४४।१६
स्वेनात्मना चक्षुरिव प्रणेता निशात्यये तमसासंबृतात्मा ।

ज्ञानं तु विज्ञानगुणेन युक्तं कर्मात्मनं पश्यति वर्जनीयम् ॥

महाभारत, शान्ति० १११ । १७ ॥

साथ [और] (त्वं) तू (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिभिः) किरणोंके साथ (प्रथमा) सबसे पहिले तथा प्रकृष्ट रूपसे (नः) हमें (आ-गहि) प्राप्तहो । (त्वं) तू (नः) हमारे लिये (यज्ञिया) पूजाके योग्य (असि) है ॥ २ ॥

(३) मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वर्तीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतांब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥१३॥ ०—२॥

अर्थः—मैं (प्रथमां) प्रकृष्ट (ब्रह्मण्वर्तीं) ब्रह्मसे युक्त (ब्रह्मजूतां) ब्रह्मद्वारा प्रेरित (ऋषि-स्तुतां) ऋषियोंद्वारा स्तुतिकी गयी (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्मचारियोंद्वारा (प्र-पीतां) विशेष करके सेवनकी गयी तथा बढ़ायी गयी (मेधां) मेधाकी (हुवे) आराधना करता हूँ, [ताकि] (देवानां) देवता (अवसे) रक्षा करें ॥ ३ ॥

(४) यां मेधां ऋभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः । ऋषयो
भद्रां मेधां यां विदुस्तां मर्या वेशयामसि ॥१४॥ ०—३॥

अर्थः—(यां) जिस (मेधां) मेधाको (ऋभवः) कला-कौशलमें प्रवीण विद्वान् (विदुः) जानते हैं, (यां) जिस (मेधां) बुद्धिको (असुराः) मेघ आदिकी विद्याके ज्ञानी (विदुः) जानते हैं, (यां) जिस (भद्रां) कल्याणमयी (मेधां) बुद्धिको (ऋषयः) ऋषि (विदुः) जानते हैं (तां) उसे (मर्यि) अपने अन्दर (आ-वेशयामसि) स्थापित करते हैं ॥ ४ ॥

(५) यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः । तया
मामर्य मेधयामे मेधाविनं कृषु ॥१५॥ —४ ॥

अर्थः—(यां) जिस (मेधां) बुद्धिको (भूतकृतः) विविध पदार्थोंको बनानेवाले (मेधाविनः) बुद्धिमान् (मृष्ययः) ऋषि (विदुः) जानते हैं । हे (अग्ने) प्रकाश-स्वरूप, भगवन्, (तथा) उस (मेधया) मेधासे (अद्य) अब (मां) मुझे (मेधाविनं) बुद्धमान् (कृणु) कीजिये ॥ ५ ॥

(६) मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिने परि । मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ १६ ॥ ०—५ ॥

अर्थः—(सायं) सांझ (प्रातः) सुबेरे (मध्यन्दिने) दोपहरके समय (सूर्यस्य) सूर्यकी रश्मियोंके साथ (वचसा) वाणीद्वारा (मेधां) बुद्धिको [हम] (आ-वेशयामसि) धारण करते हैं ॥ ६ ॥

सत्य०—वाणीद्वारा बुद्धि कैसे धारण होती है ? सूर्यकी रश्मियोंके साथ, भगवन्, बुद्धिका क्या संबंध है ?

महा०—वेदा, वाणी मनकी इच्छाओं, भावनाओं और वासनाओंका प्रकाशक साधन है । वेद साधकोंको यह उपदेश करता है कि वाणीद्वारा कहो कि हमें बुद्धि आवे । प्रातःसायं, दिन और रात्रि तथा अन्य सब समयोंमें जब अवसर मिले, इस मानसिक धारणाका वाचिक प्रकाश करो । इसका आपने ऊपर निरालाही प्रभाव पड़ता है । सोयी हुई बुद्धि जाग पड़ती है । आलस्य दूर होता है । चेतनता उमड़ पड़ती है । कहनेसे तात्पर्य दूसरेसे कहना नहीं, प्रत्युत एकान्त स्थानमें, आपने आपको सम्बोधन करके या प्रकाशस्वरूप प्रभुके सम्मुख कहनेसे तात्पर्य है । यह भावना और प्रार्थना शक्तिका स्रोत है और, सूर्यकी किरणोंका

विस्तारं तो देखो । प्रभातके समय कभी बाहिर, खुले मैदानमें निकल जाओ और उदय होते हुए सूर्य भगवानकी दृष्टिको देखो । अभी न जाने कहांसे, एक अति लाल रंगका गोलासा पृथिवी और आकाशके जोड़से ऊपर उठता है और अभी उसकी लाली श्वेत प्रकाशमें बदल जाती है । अब उसकी ओर देखा नहीं जासकता । उसने अपनी किरणोंको चारोंओर विस्तृत रूपसे फैला दिया है । कोने २ में उसका प्रकाश पहुंच चुका है । यह है प्यारो, सूर्यकी रश्मियोंका भाव, और इसीके अनुसार दूर २ तक पहुंचनेवाली, विद्या-मन्दिरके प्रत्येक कोनेमें प्रकाश करनेवाली सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली विशाल बुद्धिका धारण करना वेद सिखाता है ।

माया०—महाराज, आपने अभी सुनाया कि बुद्धि ब्रह्मसे युक्त और ब्रह्मसे प्रेरितहो । इसे तनिक खोलकर कहियेगा ।

महा०—प्यारे, ब्रह्म परमेश्वरका नाम है । ब्रह्म वेदको भी कहते हैं । ब्रह्म सूक्ष्म ज्ञानकाभी नाम है । उसके धारण करने वाले ब्राह्मणकोभी ब्रह्मन शब्दसे संकेतित करते हैं । बुद्धि वही अच्छी और उन्नत होगी, जो इन बातोंको समझ सके तथा आस्तिक भावसे युक्तहो । प्रसुकी प्रेरणासे ही बुद्धिका अत्यन्त विकास होता है । सत्य-ज्ञानका आश्रय लेकर बुद्धि विशाल बनती है । इसीलिये आगे यहां कहा है कि मृष्टि लोग जिस बुद्धिकी स्तुति करें, वह बुद्धि हमारे लिये उपादेय है । मिथ्यावाद वितरणा, शुष्कतर्क आदि भ्रमोत्पादक और जलमन्थनमात्र हैं । इनमें समय खपाना आयुका नाश करना है । विद्या और विज्ञानकी उन्नतिकेलिये आवश्यक है कि सादा तथा सरल जीवन वाले,

तपस्त्री, ब्रतचारी, शान्तस्वभाव, योग्य लोग सूक्ष्म तत्त्वोंकी परीक्षा करते रहे । जहां जनतामें ऐसे पुरुषोंकी कमी होजाती है, वहां परस्पर द्वेष, द्रोह, निन्दा, ईर्ष्या आदि पापाचारका खूब प्रचार होता है । तं २ और मैं २ का घोर राज्यस-राज्य विस्तृत होता है । अशान्ति बढ़ती है । शोर अधिक होता है और कार्य कम होता है । अतः वेदने क्या सुन्दर सन्देश दिया है, कि विज्ञान-सहायक बुद्धि ब्रह्मचारी लोगों द्वारा सेवनकी जाकर अच्छी तरह बढ़ती है । वे निलोंभूष्पसे प्रजाहितके लिये उत्तम बुद्धिका प्रकाश करते हैं । देहमें रीढ़की हड्डीकी तरह यह धर्मात्मा लोग समाजके जीवनके आधार होते हैं ।

वस्तु०—महाराज, यह महाशय तो अपने आसनसे हिलतेही नहीं । समाजपर इनका प्रभाव क्या होता होगा ?

महा०—नहीं, भोले, तुम भूल रहे हो । यही तो इनकी उस महती, ओजस्विनी बुद्धिका चमत्कार है कि वे अपने आसन पर बैठे बिठाये संसारको हिला डालते हैं । साधारण लोग ज्ञानिक उबालसे घबरा जाते हैं । पर यह चटानोंकी तरह ज्वारभाटोंमेंभी निश्चल खड़े रहते हैं । वेदभगवानका यह आशय है कि ऐसे प्रकाश-स्तंभही संकटमें जातियोंकी रक्षा करते और शान्तिके समयमें अपनी ज्योतिसे प्रकाशित करते रहते हैं ।

लोक०—महाराज, गौओं और घोड़ोंके साथ बुद्धिके आनेका क्या भाव है ?

महा०—वेटा, गौंयं और घोड़े शारीरिक पुष्टिके विहृ हैं । वेदका यह भाव है कि पुष्ट शरीरका होना अत्यावश्यक है । साधारणतया सांसारिक ऐश्वर्य और बल बुद्धिके ऊपर शासन

करता है, परन्तु साथही यहमी उपदेश है कि यह समृद्धि बुद्धिका फलरूपमी है । वे बुद्धिमान् निर्बुद्धि हैं, जिनके होते हुए, जाति में न सुख बढ़ता है, न गौंथ होती हैं और न घोड़े होते हैं । बुद्धिमत्ताका यह परिणाम होना चाहिये कि लोगोंका ऐश्वर्य बढ़े ।

अन्त०—भगवन्, तो क्या भारतवर्षमें आजकल विद्वानोंकी कमी है, जो प्रतिवर्ष अकाल पड़े रहते हैं ।

महा०—हाँ, प्यारे, ऐसे विद्वानोंकी कमी है, जो अपनी जातिके सुखके लिये अपना आप निष्ठावर करनेवाले हों । और जो कुच्छ थोड़ी बहुत अवस्था सुधरमी रही है, उसकी नींवमें इने गिने पांच दस व्यक्तियोंकाही तो कार्य है । इसलिये इसीमेंही प्रत्येक जातिका कल्याण है कि उसके अन्दर प्राकृतिक तथा मानसिक ज्ञानके भण्डाररूप, तत्त्ववेत्ता विद्वान् अधिकहों । और सुनिये ।

(७) द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः । अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥१७॥ अथर्व० १२।१।५३

आर्थः—(द्यौः) द्युलोक (च) और (पृथिवी) (च) और (अन्तरिक्ष) मध्यवर्त्तलोकने (मे) मुझे (इदं) यह (व्यचः) विस्तार [दिया है] । (अग्निः) आग (सूर्यः) सूर्य (आपः) जल (च) और (विश्व) सारे (देवाः) देवताओंने (मेधां) मेधाको (सं-ददुः) अच्छे प्रकारसे दिया है ॥ ७ ॥

अनुभवी विद्वान्के सामने विस्तृतभूमि और आकाश विस्तारके आदर्श हैं । अग्नि आदि देवताओंकी संगतिसे उसके

अन्द्र विचार पैदा होकर, सूक्ष्म बुद्धिकी आधार-शिला बनती है। इन शक्तियोंका खुला संपक नाना प्रकारके इशारे करता और ज्ञानको जगाता है। वेदका यह आशय है कि खुले, विशाल जीवन तथा बुद्धिकी विशालतामें इदं गिर्दके भौतिक जगतका बड़ा हाथ है। एक २ फूल और पत्ते में, मानो, पुस्तकोंकी पुस्तकें बन्द पड़ी हैं। आँखें रखने वाले ध्यानसे देखें। विस्तृत संसारमें रहते हुए विस्तारको धारण करना सीखें।

माया०—धन्यहो, महाराज, आपके एक २ शब्दसे नया उत्साह पैदा होता है।

महा०—अरे भाई, मेरे शब्द क्या हैं ? वेद भगवानकीही यह कृपा है। उसके एक २ प्रकरणमें उत्साह ही उत्साह भरा है। एक मन्त्र और सुनाकर आजका खण्ड समाप्त करूँगा।

(८) इध्मेनाम इच्छमानो धृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय। यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥१८॥ ऋक० ३। १८। ३॥

अर्थः—(इध्मेन) ईधन [और] (धृतेन) धृतके साथ (इच्छमानः) [उच्चतिकी] इच्छा करता हुआ (हव्यं) सामग्रीकी (जुहोमि) आहुति देता हूँ, [ताकि मुझे] (तरसे) वेग [और] (बलाय) बल [प्राप्तहो] । (यावद्) जहांतक (ईशे) मुझमें सामर्थ्य है, (ब्रह्मणा) स्तोत्रद्वारा (वन्दमानः) भक्ति करता हुआ (शतसेयाय) सैंकड़ों प्रकारकी प्राप्तिकेलिये (इमां) इस [अति प्रसिद्ध तथा उपयोगी] (देवीं) प्रकाशमान (धियं) बुद्धिको [उपयुक्त करूँगा] ॥ ८॥

सज्जनो, भक्तिका बुद्धिकी उन्नतिके साथ पूर्वभी इशारा किया जानुका है। यहांभी वेदने यही उपदेश किया है कि बुद्धिमानकी परीक्षा उसके विनयसे होगी। जो अभिमानी होकर प्रभुके आगेभी झुक नहीं सकता, उसकी बुद्धिसे क्या जाम ? वह तो विद्याकी अविद्यामें है। पुरुषार्थका क्या अच्छा उपदेश है। जबतक प्राणोंमें प्राण है, पूर्ण उद्यम करते रहो। भट्ट घबरा न जाया करो। कोई मनुष्य एकही छलांगसे न राजा, न धनाढ़ी और न ऋषि बन सकता है। हां, यह विश्वास होना चाहिये कि हमारे अन्दर बढ़ने और बढ़ा बननेके बीज मौजूदहैं। बुद्धिका प्रकाश होना चाहिये, ताकि हममें उन बीजोंको विस्तार देनेका भाव पैदा हो।

सत्य०—महाराज, वेग और बलके लिये आहुति देनेका क्या भाव है ?

महा०—वेदा, अभी देवताओंकी संगतिके लाभोंका संकेत कियागया था। प्रभु प्रकाशस्वरूप तथा महोपकारी है। अग्नि उसकी दिव्य शक्तियोंका एक प्रसिद्ध प्रतिनिधि है। ईन्धन और धृतके साथ आहुतिका देना इस बातका संकेत है कि साधक अग्निकी भान्ति प्रकाशको धारण करता हुआ, त्याग तथा उपकारके भावसे युक्तहो। इस प्रकारके संकेतोंको समझनेसेही देवताओंसे सम्पर्क बढ़ता है। इसे ही देवयज्ञ कहते हैं।

लोक०—तो क्या यह होम केवल विश्वासके आधारपर क्रियामान नहीं है ?

महा०—होम क्रिया है परन्तु देवयज्ञ केवल क्रिया नहीं। यज्ञका वास्तविक तात्पर्य आत्मिक संस्कारकी शुद्धि है और वह

विज्ञान और विचारके पीछे आचरणपर निर्भर है। इसके बिना क्रिया २ रह जाती है। वह धर्म नहीं बनता। धर्मका भाव धारण करनेवाला बल और सामर्थ्य है। उसका बुद्धिके विकासके साथ धना संबंध है। अतः यह वेद भगवानकी महिमा समझो कि ज्ञान और कर्मको मिलाकर, बुद्धिको बढ़ाते हुए सत्यधर्मके पालनका उपदेश करता है*।

माया०—भगवन्, आजकल दिन अति छोटे होगये हैं। आपकोभी देर होजाती है। यदि आक्षाहो, तो कुच्छ पहिले आजाया करें।

महा०—हाँ, ठीक है। पांच बजेके लगभग आजाया करें। अच्छा, तो अब और देर न करें।

द्वितीय खण्ड

ज्ञानकी महिमा।

महा०—सत्यकाम, देखोतो सही, आज क्या बात है ? अभीतक कोई आया नहीं।

सत्य०—महाराज, अभी आजाते हैं। (खिड़कीसे बाहिरकी ओर मुख करके) वह कई आ रहे हैं।

माया०—भगवन्, नमस्ते। कहीं बहुत चिर तो नहीं हो गया। हम प्रायः मार्गिमेंही सब मिलते गयेथे। वस्तुस्वरूपजीके

* इस विषयके विस्तारके लिये देखो, देवयज्ञप्रदीपिका, पृष्ठ २८-८८के अन्तर्गत प्रकरण।

मकानके आगे कुच्छ समय ठहरना पड़ा । उनके एक संबंधी आये हुए थे । (उसकी ओर देखकर) महाराज, इन्हें साथ लाये हैं ।

महा०—अच्छा किया । जितने अधिक कानोंमें वेदकी पवित्र वाणी पड़ सके, उतनाही अच्छा है । वस्तुस्वरूप, यह आपके संबंधी कहांसे आये हुए हैं ?

वस्तु०—गुरुजी, आपका नाम महाशय देवमित्र है । आप मथुराके रहनेवाले, अच्छे सुपठित और देशभक्त हैं । आपको विद्वानोंके सत्संगमें बड़ी रुचि है ।

सत्य०—तो, अवश्य शताब्दी-महोत्सवमें पधारे होंगे ?

देव०—(मुस्कराकर और सिर झुकाकर, महात्माजीके चरणोंमें कुच्छ फल रखकर) महाराज, मैंने आपके दर्शन वहां पर किये थे । आपका उपदेशभी सुना था । आज फिर यह अवसर पाकर कृतार्थ हुआ हूँ ।

महा०—महाशय जी, धर्म-चर्चा और विद्या-विनोदके लिये परस्पर संवाद करना और मिलकर बैठना बड़ा लाभदायक है । कल मैंने बुद्धिकी प्रेरणाके विषयमें कुच्छ मंत्र सुनाये थे । आज उससे आगे चलता हूँ । सुनिये, सरस्वती अर्थात् विद्याके गौरवको वेद भगवान् कैसे वर्णन करता है ।

(१) पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥१९॥ यजु० २० । ८४ ।

अर्थः—हे भगवन् (पावका) पवित्र करनेवाली (वाजेभिः) [नानाप्रकारके] बलोंसे (वाजिनीवती) बलयुक्त हुई २ (धियावसुः) बुद्धिद्वारा धन, पेश्वर्यको प्राप्त करानेवाली

(सरस्वती) विद्या (नः) हमारे (यज्ञं) [जीवनरूपी] यज्ञको (वष्टु) पसन्द करे ॥ १ ॥

कौनसा मल है, जो ज्ञान दूर नहीं कर देता ? कौनसा बल है, जो विद्याद्वारा प्राप्त नहीं हो सकता ? बुद्धि विद्या-प्राप्तिका साधन है और बुद्धिकी विशालता विद्याका परिणाम है । धन और पेश्वर्य उस उच्चत बुद्धिका निश्चित फल होता है, परन्तु यह सुख-सम्पत्ति स्थिर तब होगी, जब हमारा जीवन यज्ञरूप होगा । अर्थात्, विद्वानोंकी पूजा, मिलकर रहना और दानशीलता जिस समाजमें पाये जावेंगे, वहीं विज्ञानका अधिक विस्तार और फल होगा ।

सत्य०—महाराज, यह बातें तो ज्ञानके पीछेही आती हैं ।

महा०—हाँ, परन्तु कई बार इससे उलटे गुण रखनेवालोंके पासभी विद्या चली जाती है । वह उनके पूर्व कर्मोंका फल समझो । उससे समाजको विशेष लाभ नहीं होता । इसलिये वेदका भाव हमारे सामने विद्याके उच्च आदर्शको रखनेका है । सुनो,

(२) चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् । यज्ञं
दधे सरस्वती ॥२०॥

०—८५ ॥

अर्थः—(सूनृतानां) प्रेमभरे, सत्य व्यवहारोंकी (चोदयित्री) प्रेरणा करनेवाली (सुमतीनां) अच्छे विचारोंको (चेतन्ती) सिखानेवाली (सरस्वती) विद्या (यज्ञं) यज्ञमय [जीवन] को (दधे) पुष्ट करती है ॥ २ ॥

वस्तु०—पाठशालाओं और विद्यालयोंमें दीवारोंपर लटकाने योग्य क्या सुन्दर उपदेश है !

सत्य०—अजी, दीवारोंपर क्या, प्रत्येक पढ़ने पढ़ाने वालेको अपने हृदयपर लिखकर, ऐसा बनना चाहिये ।

महा०—और, सुनिये ।

(३) महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना । धियो विश्वा वि राजति ॥२१॥

०—८६॥

अर्थः—(सरस्वती) (केतुना) ज्ञानद्वारा (महः) अति विस्तृत (अर्णः) [मानसिकवेगके] प्रवाहको (प्रचेतयति) [चला देती है, मानो] जगादेती है । (विश्वा) सर्व प्रकारकी (धियः) ध्यान-शक्तियोंको (विराजति) चमका देती है ॥ ३ ॥

प्यारो, हृदय-मन्दिरमें सरस्वतीदेवीको स्थापित करो । मनको जगाओ और विचार-शक्तिकी नदीसी बहादो । अपने आपको नित्य इस निर्मल स्रोतमें स्नान कराओ । बाहिरका जल आत्मा तक नहीं पहुंच सकता* । जो इस तीर्थमें स्नान कर चुकते हैं, उनके विषयमें देखो, वेद क्या महत्वपूर्ण सन्देश दे रहा है ।

(४) सक्तुमिव तितुना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी-र्निहिताधि वाचि ॥२२॥ श्ल० १० । ७१ । २ ॥

अर्थः—(यत्र) जिस [समाज] में (धीराः) बुद्धिमान जन (तितुना) चालनीद्वारा (सक्तुम-इव) सक्तुकी तरह (मनसा) मनद्वारा (वाच) वाणीको (पुनन्तः) शुद्ध करके

* अद्विगांत्राणि शुभ्यन्ति मनः सत्येन शुभ्यति ।

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिज्ञनेन शुभ्यति ॥ मनु० ५ । १०९ ॥

(अकृत) प्रयोगमें लाते हैं । (अत्र) यहाँ [परही] (सखायः) मित्र (सख्यानि) मित्रता [करना] (जानते) जानते हैं । (पषां) इन (विद्वानों) की (अधि-वाचि) वाणीपर (भद्रा) कल्याण करनेवाली (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (निहिता) निवास करती है ॥४॥

वाणी मानसिक भावोंकाही प्रकाश करती है । शुद्धिमानोंको उचित है कि ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर आदि विकारोंसे पृथक् करके, शुद्ध, प्रेममयी वाणीका विस्तार करें । जो उनके समीप आवे, उनके प्रेम भरे व्यवहारसे मोहित हो जावे । परमात्माने मुखमें वज्र नहीं रखा । यह जिह्वा हृदयके प्रेमको प्रकाशित करनेके लिये है ।

देव०—महाराज, जब अन्दरही प्रेम न हो, तो वाणी क्या प्रकट करेगी ?

महा०—प्यारे, इसीलिये तो वेद स्पष्ट कह रहा है कि विद्वानोंको प्रथम अपने हृदयकी शुद्धि करनी चाहिये । फिर मनको चालनी बनाकर, प्रत्येक बात सोच समझकर निकालनी चाहिये । इसका परिणाम यह होगा कि समाजमें शान्तिका विस्तार होगा और सबका कल्याण होगा । यही मित्रताका वास्तविक आधार है । वाग्-वज्रके सामने मित्रता कहाँ ठहर सकती है । इसलिये वेद संसारमें सौम्य, शान्त, सात्त्विक स्वभाववाले, स्निग्ध विद्वानोंकी आवश्यकताको बताता है ।

(५) यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्तृष्णु
ग्रविष्टाम् । तामाभृत्य व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि सं
नवन्ते ॥२३॥

अर्थः—[उन्होंने] (यज्ञेन) यज्ञद्वारा (वाचः) वाणीकी (पद्वीयं) गतिको (आयन्) प्राप्त किया । (तां) उस (ऋषिषु) ऋषियोंमें (प्रविष्टां) प्रविष्ट हुई २ को (अनु-अविन्दन) [यज्ञ करके उन्होंने] पा लिया । (तां) उसे (आभृत्य) अच्छी तरह धारण करके [उन्होंने] (पुरुषा) सर्वत्र (वि-अद्युः) विस्तार कर दिया । (तां) उसीको (सप्त) सात (रेखाः) स्वर (अभिसं-नवन्ते) पूर्णतया गाते हैं ॥ ५ ॥

यज्ञका वाणीके साथ संबंध इससे पूर्वभी दर्शाया जा चुका है । वैदिक जीवनका यज्ञ मुख्य केन्द्र है । ऋषियोंमें विद्यामयी वाणी कहांसे आकर प्रवेश करती है । समस्त अनुभवी लोगोंका यह सिद्धान्त है कि प्रभुही अपने भक्तोंको निहाल करता है । उसीकी प्रेरणासे अतीन्द्रिय बातें समझ पड़ती हैं । जिन्हें यह प्रकाश होता है, उन आदि ऋषियोंसे सत्संग करके दूसरे लोग प्रकाश लाभ करते हैं । फिर वे आगे विस्तार करते हैं । इस प्रकारसे सत्य विद्या संसारमें फैलती है । किसीका इसमें अनधिकार नहीं । जो समझ सकता है, पुरुषार्थ करनेको तय्यार है, अद्वालु है, वह अवश्य पालेगा । सप्त स्वरोंमें ही सारा संगीत बन्द है । पूर्णताको प्राप्त होकर, सच्चे हृदयोंसे निकलती हुई वाणी गीतमयी बन जाती है । सकल साहित्य और संगीत विज्ञानसे पूर्ण वाणीपर निर्भर है । इसलिये सब प्रकारसे इसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ करो ।

माया०—महाराज, क्या शूद्रोंकोभी विद्या पढ़ानी चाहिये ।

महा०—क्यों नहीं ? उन्होंने क्या पाप किया है । वेदभगवान् सबका मार्ग विशाल करना चाहता है ।

दया०—पर, यहांतो वेदके नाम परही शृद्रोंको पढ़नेसे रोका जाता रहा है।

सत्य०—और, इसका फल क्या हुआ है। विद्याका नाश, राज्यका नाश, पेश्वर्यका नाश, आत्मविश्वासका नाश, परस्पर प्रेमका नाश और समाजका नाश।

महा०—बिल्कुल ठीक। वेदके धर्मके विरुद्ध कियाजाता रहा है। यह पाप और अत्याचार था। इसीका यह सारा कड़वा फल है, जो हम अब भोग रहे हैं।

(६) उत त्वः पश्यन् दर्दर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् शृणो-
त्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्ते जायेव पत्य उशती
सुवासाः ॥२४॥

०—४० ॥

अर्थः—(उत) एक और (त्वः) एक [वह है, जो] (पश्यन्) देखता हुआ (वाचं) वाणीको (न) नहीं (दर्दर्श) देखता। (उत) एक और (त्वः) एक [है, जो] (शृणवन्) सुनता हुआ (एनां) इसे (न) नहीं (शृणोति) सुनता। (उ) और (उत) दूसरी और (त्वस्मै) एक [वह है, जिसके] प्रति [वाणी] (तन्वं) अपने आपको (वि-सस्ते) पूर्णतया प्रकट कर देती है, (इव) जैसे (उशती) कामना करती हुई (सु-वासाः) सुन्दर वस्त्रोंवाली (जाया) स्त्री [अपने] (पत्ये) पति के प्रति [अपने आपको समर्पित कर देती है] ॥ ६ ॥

ज्ञानकी महिमा कितनी ही हो, सारे लोगोंने एक जैसा तो इसे नहीं अपनाना। अपनी २ योग्यता और अपनी २ खचिका प्रश्न है। वेद कितने बलसे मनुष्योंके परस्पर भेदको प्रकट करता है।

एक वह मनुष्य है, जिसके आगे संसारकी पुस्तक खुली पढ़ी है, उसके कानोंमें अच्छे से अच्छे शब्द पढ़ते हैं, परन्तु उसका मन जागनेमें नहीं आता । दूसरी ओर मनुष्योंका वह विभागभी है, जिसके सामने विद्या दासीके समान खड़ी रहती है । वेदकी उपमा इससेभी बढ़कर है । दासीका संबंध दबावका संबंध है । पली तो प्रेमकी मूर्त्ति है । विद्या मानो, उसकी अर्धाङ्गिनी बनकर जीवन-यज्ञको पूर्ण करनेमें पूरी सहायता करती है ।

(७) उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नेनं हिन्वन्त्यपि वाजि-
नेषु । अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम् ॥ २५ ॥

०—५ ॥

अर्थः—(उत) और (त्वं) एकको [तो लोग] (सख्ये) मित्रामें (स्थिरपीत) एका पिया हुआ (आहुः) वर्णन करते हैं, (अपि) और (वाजिनेषु) विद्याकी चर्चाओं और सम्बादोंमें (एन) इसकी [पहुंचको कोई] (न) नहीं (हिन्वन्ति) पहुंच सकते । [दूसरी ओर] (एषः) यह [इस प्रकारकामी मनुष्य है, जो] (अधेन्वा) तृप्त न कर सकनेवाली (मायया) मायासे [युक्त होकर] (चरति) जीवन व्यतीत करता है, [उसने] (वाचे) वाणीको (शुश्रुवान्) सुना [तो] है, [परन्तु वह] (अफलां) फलों [तथा] (अपुष्पां) पुष्पोंसे शून्य [थी] ॥ ७ ॥

पूर्व कह आये हैं कि मित्रताका आधार सच्चे विद्वानोंका प्रेम-भंग जीवन होता है । यहां इस बातकी ओर फिर इशारा करके कहा है कि विद्याके सागरमें अच्छी प्रकार स्नान कियेहुए, अनुभवी सज्जनोंकी मित्रता ही पक्की मित्रता होती है । शरीर,

धन, वरुण, मकान आदिका आकर्षण संसारमें मित्रताका मूल बनता है। परन्तु, प्यारो, यह मित्रता कितने बखेड़ेके साथ समाप्त होती है। कितनी लड़ाई, कितना भगव्दा और कितना दुःख इसमें मिला रहता है।

वस्तु०—महाराज, बड़े २ कवियोंने इसी मित्रताके वर्णनमें अपनी लेखनीको चलाया है।

महा०—यह ठीक है। सांसारिक जनोंको अपने जैसोंके चित्र देखकर ही सन्तोष प्राप्त होता है। परन्तु यह मित्रता ज्ञानकी आत्मिक मित्रताके सामने फीकी दिखाई देती है। दूसरे चित्रपर भी विचार करो। मूर्ख समझता होगा कि मेरे समान यहां कौन चालाक है। यही तो मनुष्यकी मूर्खताका सबसे बड़ा चिह्न है। यह उसका माया-ब्रह्म है। यह दूध न देनेवाली गौ समझो। उसने दो चार शब्द पढ़े होंगे। परन्तु वह विद्याकी लता हरी-भरी नहीं। उसपर न पुष्प है, न फल है। उसके ऊपर न पक्षियोंको विश्राम मिलता है और न उसकी क्षायामें मनुष्यों और पशुओंको आराम मिलता है। वेदका यह भाव है कि इस प्रकारके मृद्ग-मति विद्वान् मत बनो। संसारके साथ पूरी सहानुभूति रखनेवाले, विनय आदि गुणोंसे सुभूषित विद्वान् बनना ही अपना लक्ष्य बनाओ।

(८) यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि
भागो अस्ति । यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद
सुकृतस्य पन्थाम् ॥२६॥

अर्थः—(यः) जो [ज्ञानरूपी] (सचिविदं) साथ देने

वाले (सखायं) मित्रको (तित्याज) त्याग देता है (तस्य) उसके लिये (वाचि) वाणीमें (अपि) भी (भागः) [सेवन करने योग्य] भाग (न) नहीं (अस्ति) है । (यत) जो (ई) कुच्छ (शृणोति) सुनता है, (अलकं) मिथ्या (शृणोति) सुनता है, (हि) क्योंकि (सुकृतस्य) कल्याणके (पन्थां) मार्गको (न) नहीं (प्र-वेद) पाता ॥ ८ ॥

ऐसा मनुष्य जो कुच्छभी सुने या पढ़े, वह तत्त्व-ज्ञानसे शून्य होनेके कारण पूरा सहायक नहीं होता । वाणीका सेवनीय भाग क्या है ? सुविचारोंका प्रकाश, जिसे लोग अपना सकें । जब अन्दर ज्ञानही नहीं, तो वाणी केवल हिलती है और शब्द उत्पन्न होता है । पर उसमें कोई सार नहीं होता । अतः शुष्कवाद तथा जलमन्थनमें न पढ़ कर, तत्त्वज्ञानको ही विद्याका लक्ष्य समझना चाहिये ।

(९) अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा वभूवः । आद्मास उपकक्षास उ त्वे हदा इव स्वात्वा उ त्वे ददशे ॥२७॥

०—७ ॥

अर्थः—(अक्षण्वन्तः) आंखें रखनेवाले (कर्णवन्तः) कान रखनेवाले (सखायः) [समान स्वरूपवाले] साथी (मनोजवेषु) मनकी दौड़ोंमें (असमाः) अतुल्य (वभूवः) होते हैं । (त्वे) कुच्छ (उ) तो (आद्मासः) मुख पर्यन्त [अथवा] (उपकक्षासः) बगलों तक [आने वाले जलके] (हदा: इव) तालाबोंकी तरह (उ) और (त्वे) कुच्छ

(स्नात्वाः) [खुला] स्नान करने योग्य [तालाबोंकी [तरह]
(दृश्ये) दिखाई देते हैं ॥ ६ ॥

वही आंखें हैं, वही कान हैं । वही हाथ हैं, वही पग हैं,
परन्तु एक वह है, जो मानो, हिमालयकी हिमाच्छादित चोटीपर
खड़ा है । और, एक वह है, जो सागरके किसी गहरे गहरेमें
छिपा पड़ा है । एक वह है, जो नेता बनकर अंगुलीके
इशारेसे सहस्रों अपने जैसे मनुष्य देहधारियोंको पीछे चलाता
है । एक वह है, जिसे भेड़ बकरीकी भान्ति जहां चाहो, हांक लो ।
मनुष्य २ के मध्यमें यह अन्तर इस मानसिक गतिके कम
या अधिक होनेके कारणसे ही है । अन्तरानन्दजी, आपभी
कविता किया करते हैं । वेदके काव्यका भी नमूना देखा ?

अन्त०—भगवन्, क्या भाषा और व्या भाव, वर्णनकी
क्या सरलता और क्या सुन्दरता, जिस बातमें देखताहूँ, चकित
हो रहा हूँ ।

बस्तु०—महाराज, ठीक है । इन्ही अनुपमगुणोंके कारणही
तो अर्यजाति न जाने कितने कालसे, वेदकी शरणमें समर्पित
होचुकी है ।

महा०—देखो, इस मन्त्रमें सर्वप्रिय विद्वान्‌का स्वरूप
कैसी अच्छी तरहसे बतायागया है ।

(१०) सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या
सख्याः । किल्विषस्पृतिपुष्पणिर्देषामरं हितो भवति वाजि-
नाय ॥२८॥

अर्थः—(सर्वे) सारे (सखायः) साथी [अपने] (सख्या) मित्रके साथ [जोकि] (यशसा) यशसे [युक्त होकर] (आगतेन) आया हो [तथा] (सभासाहेन) सभाको सह सकता हो [अर्थात् बड़े २ दिग्गज परिणितोंकी सभामें प्रतिष्ठित हुआ हो] (नन्दन्ति) आनन्दको प्राप्त होते हैं, (हि) क्योंकि (सः) वह (एषां) इन [अपने साथियोंका] (किल्विषस्पृत) पाप-हरण करनेवाला (पितु-सनिः) अन्न लानेवाला [तथा] (वाजिनाय) बल और वीर्यके [सम्पादनके] लिये (अरं) बहुत (हितः) हितकारी (भवति) होता है ॥ १० ॥

जब समाजमें ऐसे विद्वान् प्रकट हों, जो पापाचरण, रोगकारी, मैले व्यवहारोंको नष्ट करें, निर्धनता और दरिद्रताको दूरकर ऐसे उपाय करें, जिनसे सम्पत्ति बढ़े और निर्बलताके स्थानपर बल और पराक्रमसे पूर्ण उत्साहका विस्तार करें, तो फिर क्यों उन्नति न हो ! सामाजिक धर्म भी क्या अच्छा बताया है । लोगोंको चाहिये कि ऐसे सूक्ष्मदर्शी, तत्त्ववेताओं, तपस्वी ब्राह्मणोंकी पूजा करें । विद्वानोंको भी वेद उपदेश करता है कि अपने साथियोंकी प्रतिष्ठाको देखकर प्रसन्न हुआ करें ।

देव०—यह तो बड़ी कठिन बात है । साधारण लोग तो फिरभी मिलकर रह लेंगे, पर विद्वानोंसे तो यह नहीं हो सकता । एक दूसरेको देखकर जलतेही रहते हैं ।

सत्य०—भाई साहिब, सभी ऐसे थोड़े हैं ?

चस्तु०—यह ठीक है, बीज नाश नहीं हुआ । पर साधारण अनुभव तो ऐसाही है ।

लोक०—एक नगरमें दो राजा नहीं रह सकते । एक मियानमें दो तलवारें नहीं समा सकतीं । ऐसेही दो परिडत भी मिलकर काम करते हुए शायद ही कहीं पाये जाते हों !

महा०—मैं आपका भाव समझ रहा हूँ । इस समयकी हमारी अवस्था कुच्छु पेसीही बन रही है । इसका मूल आर्य-साम्राज्यका नाश होजाना है । पुराने आदर्शके अनुसार ब्राह्मणका धन उसकी तपस्या होती थी । उस धनका धनी बड़े २ नरपतियोंके अभिमान-मदका मर्दन कर देता था । परन्तु इस समय प्रत्येकको अपनी रोटीकी पड़ी है । जब एक दुकड़ा दूसरेको जाता दिखाई दे, तो यही प्रतीत होता है कि हो न हो, यह मेरी रोटीमेंसे ही कट कर जा रहा है । इसका परिणाम यह है कि सारे समाजका ही लक्ष्य तुच्छ तृप्ति बन गया है । वेद सोये हुए लोगोंको फिर जगाता है । वेद ऐसे विद्वान चाहता है, जो एक दूसरेकी कीर्ति-पताकाका विस्तार करनेवाले हों । उनका आदर्श लोक-सेवा हो, न कि स्वार्थ-पूर्ति । स्वार्थ अशान्ति बढ़ाता है, सेवाका भाव इसे कम करता है । सज्जनो, यह निश्चय जानो कि सामाजिक विकास तभी ठीक २ होगा, जब जनता फिर वेद भगवान्के इस पवित्र उपदेशपर आचरण करेगी । सत्यकाम, आसन आदि तत्त्वार करो । सन्ध्याका समय होगया है । देवमित्र जी, आप अभी कुच्छु दिन यहीं रहेंगे ?

देव०—नहीं, महाराज, जी तो यही चाहता है कि आपका उपदेश सुनता रहूँ । पर पीछे एक आवश्यक कार्य है । मुझे कलही जाना पड़ेगा ।

महा०—अच्छा, प्रसन्न रहो । इन बातोंका विचार करते रहना ।

यह कहकर महात्माजी उठ पड़े । सबने श्रद्धासे नमस्तेकी और अपने घरोंकी ओर चल पड़े ।

तृतीय खण्ड

वाग्देवीका आत्म-दर्शन ।

महा०—वस्तुस्वरूप जी, आपके मित्र चले गये ?

वस्तु०—जी हाँ, स्टेशनसे ही आ रहा हूँ ।

माया०—भगवन्, आज किस विषयको लेंगे ? कौनसे रसका आज आस्वादन होगा ?

महा०—व्यारो, कल और परसों दो दिन आपने वेद भगवान्‌के शब्दोंमें बुद्धि तथा ज्ञानकी महिमा सुनी । आज जो सूक्त आपको सुनाऊंगा, उसमें स्वयं वाग्देवी अपना स्वरूप वर्णन करती है । एक २ मंत्र काव्य-रत्न है ।

सत्य०—अन्य धर्मोंके ग्रन्थोंमें तो विज्ञान-वृद्धाङ्क फलोंका आस्वादन अच्छा नहीं समझा गया ।

महा०—यही तो वेदका महत्व है । सबसे पुराना धर्म-ग्रन्थहो और इतना बुद्धि, मेधा, विद्या और विज्ञानका पोषक हो । सच है, सामाजिक विकासके माननेवालोंने अपने सिद्धान्त, वैदिक साहित्यपर दृष्टिपात किये विनाही स्थिर करलिये हैं ।

यदि वे वेदादि सच्छास्त्रोंके उज्ज्वल तथा सूक्ष्म भावोंपर विचार करें, तो अपनी सम्मतिको बदले विना न रह सकेंगे । सुनो, बाणी भगवती क्या कहती है !

(१) अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुतविश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभाविभर्म्यहमिन्द्राश्ची अहमश्विनोभा ॥२९॥

ऋ० १० । १२५ । १ ॥

अर्थः—(अहं) मैं (रुद्रेभिः) रुद्रों (वसुभिः) वसुओं (आदित्यैः) आदित्यों (उत) और (विश्वदेवैः) [अलक्षित, असंख्य] सकलदेवताओंके साथ (चरामि) विचरती हूँ । (अहं) मैं (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण (इन्द्राश्ची) इन्द्र और अग्नि (उभा) दोनों (श्विना) श्वियोंको (विभर्मि) धारण और पुष्ट करती हूँ ॥ १ ॥

परमात्मा सर्वत्र व्यापक होता हुआ भी स्थूल नेत्रोद्धारा दिखाई नहीं देता । परन्तु जहां देखो, उसके चमत्कार दिखाई देते हैं, भौतिक जगतमें सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत, मेघ, वायु, पृथिवी, अग्नि और जल उसकी महिमाके विस्तार हैं । देहमें इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदिकी सूक्ष्म रचना उसीका परिचय देती है । समाजमें विद्वान्, त्यागके आदर्श, महापुरुष उसकाही यश गाते हैं । वे समाजके प्राणरूप हैं । इन चमत्कारोंको वैदिक परिभाषामें देवता कहते हैं ।

रुद्र, वसु, आदित्य, मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्वी इन्हीं देवताओंमेंसे हैं । भौतिक जगतमें यह मेघ, पृथिव्यादि निवासस्थान, मास, संवत्सर आदि नियत ब्रतचारी, सूर्य,

सर्वव्यापक जल, विद्युत, आग, दिन और रात्रि आदि के संकेत हैं। शरीरमें प्राण, इन्द्रियादि के वाचक हैं। समाजमें विद्वानों, ब्रह्मचारियों, सन्यासियों, उपदेशकादिकों से तात्पर्य है। सज्जनों, वाग्देवी इन सबके साथ विचरती है; इनको धारण करती और पुष्ट बनाती है। परमाणु २ में परमेश्वरका अखण्ड, अनन्त ज्ञान काम कर रहा है। विना उसकी आज्ञाके एक पत्ताभी नहीं हिल सकता। सामाजिक देवता कायिक देवताओं की सहायतासे भौतिक देवताओं का ज्ञान प्राप्त कर, लोकमें उसका विस्तार करते हैं।

(२) अहं सोममाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारमुतं पूषणं
भगम् । अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय
सुन्वते ॥ ३० ॥

०—२ ॥

अर्थः—(अहं) मैं (आ-हनसं) पाप-नाशक (सोमं) सोम (त्वष्टारं) [सब जगत्का विधान करनेवाले] त्वष्टा (उत) और (पूषणं) [सबको पुष्ट करनेवाले] पूषा (भगं) [सबको पेश्वर्य देनेवाले] भगको (विभर्मि) धारण करती हूँ। (अहं) मैं (हविष्मते) होम करनेवाले (सुप्राव्ये) अच्छे प्रकार रक्षादि द्वारा पालन करनेवाले (सुन्वते) सोमयज्ञादि करते हुए (यजमानाय) परोपकार करनेवाले [मनुष्यके लिये] (द्रविणं) धनको (दधामि) धारण करती हूँ ॥ २ ॥

सोमादि विभूतियां वास्तव उपकारक तब होती हैं, जब मनुष्य इनसे पूरा २ लाभ प्राप्त करे। इसके लिये यह आवश्यक है

कि वह विचारशील और सृज्मदर्शी बने । ऐसा होनेपर तो मेघ क्या और विजली क्या, सूर्य क्या और चन्द्र क्या, जल क्या और वायु क्या, पृथिवी क्या और अग्नि क्या, सभी भौतिक आध्यात्मिक और सामाजिक देवता उसके लिये ज्ञानका कोष खोले खड़े हैं । सुननेवाला चाहिये । शब्द होरहा है, महान् शब्द होरहा है । वाग्देवी इस सर्वव्यापी, छिपे हुए शब्द-भरणाडार और सृज्मज्ञानकी ओर हमें प्रेरित करती है ।

दूसरी बात कर्मकारणके साथ संबंध रखती है । यजमानको विश्वास होना चाहिये कि मेरा किया हुआ कर्म मेरेलिये मनोवाञ्छित आनन्दका लानेवाला होगा । यजका एक २ अंग संकेतोंसे पूर्ण है । उसे समझनेवाला चाहिये । वाग्देवी वहां भी विद्यमान है । जो इस तत्त्वको समझकर ठीक रीतिसे कर्म करने लगजाता है, उसे यह देवी निहाल कर देती है ।

(३) अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् । तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्या-वेश्यन्तीम् ॥ ३१ ॥

०—३ ॥

अर्थः—(अहं) मैं (राष्ट्री) [सब जगतपर] राज्य करनेवाली (वसूनां) [विविध प्रकारके] धनोंको (संगमनी) प्राप्त करानेवाली (चिकितुषी) [सकल] ज्ञानके धारण करने कराने वाली (यज्ञियानां) पूज्योंमें (प्रथमा) मुख्य हूँ । (तं) उस (भूरिस्थात्रां) नाना रूपोंमें ठहरी हुई (भूरि आवेश्यन्तीं) नाना भावोंमें परिपूर्ण होकर समायी हुई (मा) मुक्तको (देवाः) देवताओंने (पुरुत्रा) सर्वत्र (वि-अदधुः) फैला दिया है ॥ ३ ॥

यह विद्यामयी वाणी ही है, जो जगतकी महारानी है । बड़े २ राजा और महाराजा इसके आगे मस्तक सुकाये रहते हैं । वह कौनसा धन है, जिसे यह अपने भक्तको न लाकर देती हो । सारे साम्राज्य और सारे कोष इसीके चरणोंमें केन्द्रित हैं । यह पूज्यों की पूज्य है । बास्तवमें यही तो सबसे पहिले इस बातको सिखाती है कि इस प्रकारके लोगोंकी पूजा करनी चाहिये । उन स्थानोंका और उन रूपोंका कोई अन्त नहीं, जिनमें यह विज्ञानात्मक वाणी भगवती पायी जाती है । सचमुच आयु बहुत थोड़ी है और प्यारो, सीखनेवाली बातें अनन्त हैं । वेद उन विद्वानोंको अच्छा समझता और देवता पदसे प्रतिष्ठित करता है, जो इस देवीके सन्देशको देश देशान्तर और द्वीप, द्वीपान्तरमें लेजाते हैं । वेद नहीं चाहता कि संसारमें कोई मूर्ख रहे ।

लोक०—भगवन्, बड़े आश्र्यकी बातें आप सुनाते हैं । क्या यह सच नहीं है कि सभ्य संसारमें भारतवासीही सबसे अधिक प्रतिशतक निरक्षर हैं ? और, यह वेदके माननेवालोंका देश है ।

महा०—बेटा, तुम जो कुच्छ कहते हो, ठीक है और बड़ा दुःखदायक है । पर यह भी तुम्हें पता होना चाहिये, कि अब वेदको माननेवाले यहां नहीं रहते । मानना इसका तभी असली था, जब लोग इसकी आज्ञाओंको मानते थे । और उस समयके इतिहासके आधारपर ही तो अब भी हम दूसरे लोगोंके साथ आँखें मिला सकते हैं । भारतके वैदिककालमें अविद्या पापल्प समझी जाती थी । राजा बड़े अभिमानसे

कह सकते थे कि हमारे राज्योंमें कोई अविद्वान् नहीं है * ।

* “स ह प्रातः संजिहान उवाच,
न मे स्तेनो जनपदे न कद्यो न मद्यपः ।
नानाहितान्निर्विद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः” ॥

छान्दोग्य० ५ । ११ । ५ ॥

आज किस देशका राजा इतना गौरवयुक्त वचन कह सकता है ?
महाराज दशरथके समयकी अयोध्याका वर्णन सुनो,

“कामी वा न कद्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वाच्च च नास्तिकः” ॥

वाल्मीकिरामायण १ । ६ । ८ ॥

नारियां भी वेद तक पढ़ती और यज्ञ करती थीं । सुनो, कौशल्या
महाराणीका वृत्तान्त,

“सा क्षौमवसना हृषा नित्यं ब्रतपरायणा ।
अमिं जुहोति स्म तदा मन्त्रवल्कृतमंगला” ॥

वाल्मीकि० २ । २० । १५ ॥

सुग्रीव, हनुमान् आदि जंगली देशके रहनेवाले थे । परन्तु विद्याका
प्रचार वहां भी भली-भान्ति हो चुका था । सुनो, महाराज रामचन्द्र हनुमान्के
मधुर-वचनोंको सुनकर कैसे उसकी विद्याकी प्रशंसा करते हैं ।

“नानृग्वेदविनीतस्य नायुर्वेदधारिणः ।
नासाम्बवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहुव्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्” ॥

वाल्मीकि० ४ । ३ । २८, २९ ॥

कहां यह ब्रह्मर्थियों और राजर्थियोंका आयावर्त देश और कहां आज
कलके दब्बू हिन्दुओंका हिन्दोस्तान ! मातृभूमिकी इस समय यदि सबसे
कोई बढ़ी सेवा है, तो वह घर-घरमें विद्याके दीपकका प्रकाश और अपने
चमकतेहुए पूर्वजोंकी पवित्र स्मृतिका जीवित करना है ।

शद्र और जंगली लोग भी पढ़े लिखे होते थे । सभी नर, नारी विद्या-सागरमें खुले ज्ञानका आनन्द लिया करते थे ।

सत्य०—महाराज, हम कितने गिरे हैं ? कहाँ तो वह पर्वतका शिखर, और कहाँ यह रसातल !

महा०—प्यारे, वेद तुम्हारी जातिकी जान है । तुम्हारे मुरदा ढांचोंका प्राण है । इसीका फिर प्रचार करो, वही भाव, वही विचार और वही आदर्श फिर लौट पड़ेंगे । संसारके इतिहासमें ऐसे उतार-चढ़ाव आया ही करते हैं । पुरुषार्थ करो और दूसरोंसे कराओ । अविद्या-पिशाचीको देशके कोने कोनेसे दूर भगाओ । इसीमें कल्याणका सारा मूल-मन्त्र गुप्त है ।

वस्तु०—अब मैं समझा कि स्वामी द्यानन्दजी महाराजने इस बातपर इतना बल लगाया है । अब उनके पीछे उनके अनुयायियोंने भी विद्या-प्रचारको अपने कार्यका एक मुख्य धंग बना रखा है ।

महा०—प्रत्येक वेदभक्तको ऐसा ही करना चाहिये । सुनो, आगे भगवती क्या कहती है !

(४) मया सो अन्मति यो विपश्यति यः प्राणिति
य ई शृणोत्युक्तम् । अमन्तवो मान्त उपक्षियन्ति श्रुष्वि श्रुत
श्रद्धिवन्ते वदामि ॥३२॥

०—४ ॥

अर्थः—(यः) जो (वि-पश्यति) अचङ्की तरह देखता,
(यः) जो (प्राणिति) अचङ्की तरह जीवन धारण करता (ई)
और (यः) जो (उक्तं) कहे [वचन] को (शृणोति) सुनता

है, (सः) वह (मया) मेरेद्वारा (अन्नं) अन्नको (अन्ति) स्खाता है [अर्थात् उसका वास्तव जीवनका आधार मैं हूँ] । हे (श्रुत) विद्वानपुरुष, (श्रुधि) [व्यानसे] सुन । (ते) तुम्हे (अद्विवं) विश्वास करने योग्य [बात] (वदामि) कहती हूँ । [अपने चारों ओर दृष्टि-पात कर और देख] (ते) वे [कितने आदमी] (मां) मुझे (अमन्तवः) न जानतेहुए [तेरे] (उप) समीप (क्षियन्ति) निवास कर रहे हैं ॥४॥

सज्जनो, वागदेवी आपके सामने क्या सुन्दर, वैदिक-जीवनका आदर्श रखती है । विज्ञानको अपने जीवनकी आधार-शिला बनाओ । उसके ऊपर विशाल भवन खड़ा करो । पर यहाँ बस न कर देना । अपने चारों ओर बसनेवाले भोंपड़ोंमें भी देख लेना । उन्हें भी आश्वासन देना और अपने जैसा बनानेका यत्न करना । प्रभुको प्रसन्न करनेका यही मार्ग है । मौखिक जमा-खर्च करना बहुत सुगम है । सिद्धान्तको कार्य-रूपमें लाना ही कठिन है । यश उसीका होगा, जो इस कड़े मार्गपर चलताहुआ नहीं घबराएगा ।

(५) अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानु-
षेभिः । यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृष्टिं
तं सुमेधाम् ॥३३॥

०—५॥

अर्थः—(अहं) मैं (एव) ही (स्वयं) अपनेआप (इदं) यह (वदामि) कहती हूँ । [इस मेरे कथनका] (देवेभिः) देवताओं (उत) और (मानुषेभिः) मनुष्योंने (जुष्टं) सेवन

किया है [अर्थात् इसकी सचाईका अनुभव किया है] । (यं) जिसे (कामये) पसन्द करती हूं, (तं तं) उसे अवश्य (उग्रं) शक्तिशाली (ब्रह्माण्ड) चारों वेदोंका वक्ता (ऋषिं) दीर्घदर्शी ऋषि (सुमेधां) अच्छ्री मेधासे युक्त (कृणोमि) बना देती हूं ॥५॥

यह सर्वानुभूत और स्वतःसिद्ध सचाई है । जिसपर सरस्वती दयालु होती है, वह क्या नहीं बन जाता ? जिधर पांच उठाता है, विजय-श्री हाथ बांधे आगे खड़ी होती है । यह प्रत्येक मनुष्यको स्वयं निश्चय करना चाहिये कि वह कहाँ तक ऊपर उड़ना चाहता है । प्यारो, विद्याके इस विस्तृत आकाशमें गतिकी कोई सीमा नहीं है । चले चलो, बढ़े चलो, यही आदि और यही अन्तका सन्देश है ।

(६) अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥३४॥

०—६॥

अर्थ:—(अहं) मैं (रुद्राय) रुद्ररूप [दगड़धारी, नियम-पालक राजा] के लिये (धनुः) धनुषका (आ-तनोमि) चिल्हा चढ़ाती हूं, [ताकि वह] (ब्रह्मद्विषे) ईश्वर, वेद और ब्राह्मण-धर्मके शत्रुदलका (शरवे) शख्तोद्वारा (उ) निश्चयपूर्वक (हन्तवै) नाश कर सके । (अहं) मैं (जनाय) जनताकेलिये (समदं) मिलकर आनन्द-प्राप्तिका साधन (कृणोमि) उपस्थित करती हूं, (अहं) मैं (द्यावापृथिवी) द्युलोक और भूमिमें (आविवेश) समा रही हूं ॥ ६॥

जहाँ राजाका कार्य प्रजाओंका रंजन और प्रेम है । वहाँ

उसे अच्छे पिता और गुरुके समान समयपर दण्ड भी धारण करना पड़ता है । कब प्रेमका समय है और कब दण्डका, इसीके विवेकपर उसकी कीर्ति और सिद्धि निर्भर है । विद्यादेवीकी पूजा उसे यह विवेक प्रदान करती है । वह ठीक न्याययुक्त रीतिसे संसारसे नास्तिक-बुद्धिवाले, तप, त्याग, दयादि सौम्यगुणोंका नाश करनेवाले, विज्ञानके शत्रुओंका दमन कर सकता है ।

और, यह कितने महत्वकी बात कही कि मैं तुम्हें इकड़ा आनन्द प्राप्त करना सिखाती हूँ । वेदकी विद्याका वस्तुतः आदर्श बहुत ऊँचा है । हम इसके प्रकाशमें खड़े नहीं होसकते । मिलकर आनन्द लेना कहां, और हमारा स्वभाव कहां ? पर, प्यारो, ऐसे चिह्न-चक्र पैदा होरहे हैं, जो विद्वानोंको उनकी नींदसे उघाड़नेवाले हैं । वेदका यह महत्व है कि यह विद्याद्वारा आनन्द-प्राप्तिको एक सांझी वस्तु बतलाता है ।

(७) अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः
समुद्रे । ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूर्धां वर्षणोप
स्पृशामि ॥३५॥

अर्थः—(अहं) मैं (अस्य) इस [जगत्] के (पितरं) पालन करनेवाले [द्यु-लोक] को (मूर्धन्) [माथेके समान] ऊपर आकाशमें (सुवे) प्रेरित करती हूँ । (मम) मेरी (योनिः) जन्मस्थान (समुद्रे) समुद्रके (अन्तः) अन्दर (अप्सु) जलोंमें है । (ततः) वहांसे (विश्वा) सकल (भुवना) लोकों (अनु) में (वि-तिष्ठे) फैल जाती हूँ । (वर्षणा) अपने शरीर

[अर्थात् स्वरूप] से (द्यां) द्यु-लोकको (उप-स्पृशामि) जा छूती हूँ ॥ ७ ॥

द्युलोकमें सूर्य, चन्द्र, तारागण प्रभुकी विश्व-व्यापिनी, अन्धकार-नाशिनी, सर्व-प्रकाशिनी, विद्यामयी ज्योतिसे ही चमकते हैं । भगवान्‌के ज्ञानमय नियमोंसे ही प्रेरित होकर, वे दिनरात प्रजाके हितमें पिताके समान होकर लगे रहते हैं । जलोंसे भरा समुद्र भी एक दूसरा संसार है । उसकी गहरीसे गहरी कन्दरामें भी भगवान्‌की दुद्धिकी ज्योति जग रही है । वहांसे, मानो, उसकी किरणें निकल-निकलकर सारे लोकोंमें व्यापक होती हुई द्युलोकके भी पार जा पहुँचती हैं । *

(C) अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा । परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव ॥२६॥

०—८॥

अर्थः—(अहं) मैं (एव) ही (विश्वा) सारे (भुवनानि) लोकोंको (आ-रभमाणा) बनाती और धारण करती हुई

* आध्यात्मिक अर्थः—

(अहं) मैं (अस्य) इस (शरीर) के (पितरं) रक्षक [जीवात्मा] को (मूर्धन्) मस्तक [अथवा रीढ़की हड्डीके शिखर] में (सुवे) प्रेरित करती हूँ । (मम) मेरा (योनिः) जन्मस्थान (समुद्रे) [मानसिक] समुद्रके (अन्तः) अन्दर (अप्सु) [विचारोंके] प्रवाहमें है । (ततः) वहांसे निकल-निकलकर मैं सारे संसारमें फैलती हूँ हत्यादि ।

अर्थात् दुद्धिका सूक्ष्म तत्त्व हृदयके अन्तर्गत अंकुरित होकर, मस्तकके संस्कारोंको ग्रहण करता और सारे विश्वको समझनेके लिये, मानो, विस्तृत होता है ।

(वातः इव) वायुकी तरह (प्र-वामि) प्रकृष्ट गतिको करती हूँ । (दिवा) द्युलोककी अपेक्षा (परः) परे (एना) इस (पृथिव्या) पृथिवीकी अपेक्षा (परः) परे [अर्थात् इनसे अधिक विस्तृत हूँ, और मैं अपने विषयमें क्या कहूँ] (महिना) महिमासे युक्त होकर (एतावती) इतनी (सं-बभूव) हूँ ॥ ८ ॥

कोई लोक नहीं, कोई द्वीप नहीं, जहाँ भगवती वागदेवीका सम्बन्ध न हो । परमेश्वर भी जो कुच्छ बनाता है, इसे धारण करके ही बनाता है । वायुका खुला संचार होता है । इसी प्रकार इस विचित्र-शक्तिका भी खुला प्रचार होरहा है । सकल निर्माणमें मुख्य साधन होनेके कारण, मानो, यही सब कुच्छ बना रही है । सारी सृष्टिकी आदिमें भगवानका विज्ञानमय दिव्य शब्द ही होता है । भगवानके साथ उसका यह शब्द भी सर्वत्र व्यापक होरहा है । इसी आशयको प्रकट करती हुई भगवती कहती है कि पृथिवी और आकाशसे भी मैं परे हूँ । और मेरे विषयमें क्या पूढ़ोगे, अब मुझे अपनाओ, धारण करो और पूर्ण ऋद्धि, सिद्धिके स्वामी बनो ।

सत्य०—भगवन्, इन प्रकरणोंको सुनकर, मानो, आंखें खुल गयी हैं । ऐसे प्रतीत होने लगा है कि विद्याके अर्थाह सागरके किनारेसे भी अभी कोसों दूर पढ़े हैं । अज्ञानका सिरपर इतना दबाव पड़ा है कि एग उठते ही नहीं । मार्ग बताओ, सच्चा मार्ग बताओ, जिसपर चलें, ताकि हमारा कल्याण हो ।

माया०—सच्चे गुरो, कहाँ वे दिन थे जब 'अहंब्रह्म' के दो शब्दोंको रट-रटकर मेरा मस्तक अभिमानके नशेसे चकरा

रहा था, और, आहा, कहां ये दिन भी आये हैं कि आगे मार्ग ही नहीं दिखाई नहीं देता । सारा मद उड़ चुका है । अब तो उसके पीछेकी शिथिलता-सी मारे जाती है । भगवन्, आपके यह शब्द मेरे कानोंपर पड़ते हैं । अन्दर भी जाते हैं । उठना भी चाहता हूँ । सरस्वतीके दीपकको जगाना भी चाहता हूँ । पर स्वप्रावस्थाकी तरह अपनी छातीपर पत्थर-सा पड़ा हुआ अनुभव करता हूँ । कुच्छ भय-सा प्रतीत होता है । कुच्छ संकोच, कुच्छ लज्जा और कुच्छ और अनेक प्रकारके विचार पैदा हो-होकर मुझे दबाये चले जाते हैं ।

महाऽप्यारो, मत घबराओ । यह तुम्हारी तड़प स्वाभाविक है । वेदके पवित्र सन्देशने तुम्हें जगाया है । अन्धेरेमें रहनेका स्वभाव पड़ चुका था । प्रकाश दुःसह्य प्रतीत होता है । पर शनैः शनैः अभ्यास होजावेगा । विद्याका वास्तवमें कोई अन्त नहीं । प्रभुने बुद्धि दी है, मन दिया है । स्मृतिकी शक्ति बनायी है । अब तो ठीक प्रकारसे इन्हें प्रयोग करनेकी बात है । नित्य प्रातः उठकर भगवानकी आराधना करते समय उसके अनन्त ज्ञानका ध्यान किया करो । उस सर्वज्ञ प्रभुसे ही ज्ञानकी भिज्ञा किया करो । और साधन भी हैं और उनका आपने समयपर वर्णन भी करूँगा । परन्तु इस साधनसे सब नीचे हैं । कल मैं आपको उन मानसिक जापोंको सुनाऊंगा, जिन्हें आप इस प्रयोजनकेलिये प्रयोगमें लाया करें । उत्साहको धारण करो और जिस मार्गपर चले हो, इसीपर स्थिर रहो । सदा आशावान रहो, निराशाको पास न आने दो । सबसे पहिली बात जो वेद सिखाता है, वह यही है ।

माया०—बहुत अच्छा, महाराज, ऐसे ही करेंगे ।

सब प्रेमपूर्वक महात्माजीसे विदा हुए । वे सत्यकामको साथ लेकर नदी-तीरकी ओर धूमने तथा नित्य-कर्म करनेके विचारसे चल पड़े ।

—:-o:-

चतुर्थ खण्ड

शरणागतकी टेर

—○○○○—

दूसरे दिन सब भक्तजन ठीक समयपर पहुंच गये । महात्माजी वहाँ न थे । आज वे सारा दिन बाहिर ही रहे थे । दोपहरका भोजन भी न किया था । सत्यकाम यह बात आपने साथियोंके पूछनेपर सुना ही रहा था, कि महात्माजी भी आ पहुंचे । सबने उठकर स्वागत किया ।

महा०—क्या समय होगया ? बहुत प्रतीक्षा तो नहीं करनी पड़ी ? सूर्यके अनुमानसे ही आगया हूँ ।

सत्य०—नहीं, महाराज, आभी सब भाई आरहे हैं । सारा दिन आपने कुच्छ आहार नहीं किया । आज्ञा हो, तो थोड़ा-सा गरम गरम दूध लाऊँ ।

महा०—विशेष जुधा तो नहीं । पर ऐसी ही आपकी भावना है, तो थोड़ा-सा ले आइए ।

आज उनका मुखारविन्द कान्तिसे विकसित होरहा था । ऐसे तो सदा ही वहाँ मुस्क्यान बनी रहती थी, पर आज

कुच्छु विशेषता थी । नदीके तटपर सारा दिन शुद्ध वायुका सेवन तथा एकान्त ध्यान करते रहे थे । ताजे जलसे पञ्च-ज्ञान करके उन्होंने भक्तकी अद्वाका अभिनन्दन करतेहुए दूध पी लिया और शान्त, गंभीर स्वरसे वेदमन्त्रोंका उच्चारण आरम्भ कर दिया । वह बल और वह मिठास ! अद्भुत समय बंध रहा था । तनिक भी शोर न था ।

(१) ये त्रिपासाः परियन्ति विश्वा रूपाणि विभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ ३७ ॥

अर्थव० १।१।१ ॥

अर्थः—(ये) जो (त्रि-सप्ताः) तीन गुना सात (विश्वा) सारे (रूपाणि) रूपोंको (विभ्रतः) धारण करतेहुए (परियन्ति) चारों ओर विचरते हैं । (वाचस्पतिः) सब विद्याओंकी रक्षा करनेवाला जगदीश्वर (तेषां) उनके (तन्वः) स्वरूपके (बला) बलोंको (मे) मुझमें (दधातु) धारण करे ॥ १ ॥

इस विस्तृत ब्रह्मागडमें विद्यमान पदार्थोंका कोई अन्त है ? परन्तु हमारेलिये तो जगत् सात ही प्रकारसे ग्रहण करने योग्य बन रहा है । पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि ही बाहिर और अन्दरके स्थूल भौतिक और सूक्ष्म विचारात्मक जगतसे हमारा परिचय कराते हैं । सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे सारी सृष्टि तीन प्रकारकी होकर इन सात द्वारोंसे हमारे पास आतीहुई इकीस प्रकारकी बन जाती है । इसीमें सब लोक, सब काल, सब गुण, सब कर्म, जो कुच्छु है, आ जाता है । सारा बल, सारा पराक्रम, सारा प्रकाश इन्हींमें है । हे

जगदीश्वर, आप ज्ञानके अधिष्ठाता हो । कृपा करो कि हम इन भिन्न भिन्न प्रकारके पदार्थोंके तत्त्व और स्वरूपको ठीक ठीक समझतेहुए, उनके सार और बलको अपने अन्दर धारणा करें । जैसे मधुमक्खी धन्तरे और गुलाबको अपनेलिये उपयोगी बना लेती है, ऐसे ही हमें भी सब पदार्थोंका यथायोग्य उपयोग करें । किसीसे धृणा न करें । किसीको तुच्छ न समझें । भगवन, आपकी अद्भुत रचनामें कोई वस्तु निरर्थक नहीं, कोई हानिकारक नहीं । हमारा अज्ञान ही अपराधी है । हे देवोंके देव, इस पर्देको हटाओ और ज्ञानका वर प्रदान करो । प्यारो, इस प्रकारकी भावना है, जिसके साथ प्रत्येक नर, नारीको अपने दैनिक कार्यका आरम्भ करना चाहिये ।

(२) पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह । वसोष्पते
निरमय मर्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३८ ॥ ०—२ ॥

अर्थः—हे (वाचस्पते) सकल सत्य विद्याओंके नाथ ! (देवेन) प्रकाशयुक्त (मनसा) मनके साथ (पुनः) फिर (पहि) आओ । हे (वसोः-पते) सकल ऐश्वर्योंके स्वामिन, (निरमय) [नाशको] रोको [मेरी शक्तियोंको इधर उधर ज़ीण मत होने दो] (मयि एव मयि) मेरे अन्दर ही (श्रुतं) सत्यशास्त्रोंके सुननेसे उत्पन्न सच्चा ज्ञान (अस्तु) विराजमान रहे ॥ २ ॥

अह ! नाथ, मैं सोगया था । मुझे अपनी यात्रा भूल चुकी थी । मार्गमें मुझे भंग चढ़ गयी थी । मैं बेहोश होरहा था । आओ आओ, देव, आओ । मेरे सोयेहुए मनको फिर

जगाओ । आओ, मेरे हृदयके स्वामिन, आओ । मेरे विज्ञानके कोषकी रक्षा करो । मेरा ज्ञान सदा उपस्थित रहे । मेरा आचरण तथा व्यवहार सदा उसके अनुसार हो । भगवन, मुझे विज्ञेयोंसे बचाओ । मुझे कुमार्गोंसे हटाओ । ज्ञान-मन्दिरकी ओर मेरे पांचोंका बढ़ाओ । मेरी पूँजी बढ़े, कम न हो ।

(३) इहैवाभिवितनूभे आर्लीं इव ज्यया । वाचस्पति-
नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३९ ॥ ०—३ ॥

अर्थः—हे भगवन् ! (इहै) यहां [मेरे मनमें] (अभि-
वि-तनु) खूब विस्तार करो । [ज्ञानद्वारा मेरे मनको फैलाओ]
(इव) जैसे (ज्यया) चिल्लेद्वारा (आर्लीं) [धनुषके]
सिरोंको [खैंचा जाता है] । (वाचस्पतिः) सर्व विद्याओंका
पति (नि-यच्छतु) [मेरे मनको] स्थिर करे, [ताकि] (श्रुतं)
सुना-सुनाया [ज्ञान] (मयि पव मयि) अच्छी तरहसे मेरे
अन्दर (अस्तु) रहे ॥ ३ ॥

जिस तरह कमान कसी जाती है, उसी प्रकार हमारा
मन विस्तृत तथा कसाहुआ होना चाहिये । ज्ञानको स्थिर करें
और बढ़ावें । ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! हमें अपने अनन्त भगवारसे
प्रकाश प्रदान कर ।

(४) उपहृतो वाचस्पतिरूपासान् वाचस्पतिर्हयताम् ।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४० ॥ ०—४ ॥

अर्थः—[जब हमारेद्वारा] (वाचस्पतिः) वाणीका पति
परमेश्वर (उप-हृतः) बुलाया जावे, [अर्थात् जब हम उसकी
आराधना करें] (वाचस्पति) वाणीका पति (अस्मान्) हमें

(उप-हृयताम्) अपने समीप बुलावे । (श्रुतेन) ज्ञानके साथ (सं-गमेमहि) मिले रहें । [मैं] (श्रुतेन) ज्ञानसे [कभी भी] (मा) मत (वि राधिषि) पृथक् होसकूँ ॥ ४ ॥

भगवान् हमारी भावनाको देखता है । उसे ढढ़ करनेकी आवश्यकता है । बस, फिर तो बुलानेकी देर है । वह अवश्य हमारी टेरको सुनता है । हमें ज्ञान ही सबसे पहिले मांगना है । उसीके हम भिखारी हैं । हमारा सत्य-ज्ञानसे सदा सम्बन्ध बना रहे । कभी वियोग न हो । सज्जनो, यह भाव मनको उभारनेवाले, विद्यामें रुचि पैदा करनेवाले, आत्मविश्वासकी ढढ़ नींवपर उच्चतम आदर्शको स्थापित करनेवाले हैं ।

(५) संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः । संज्ञान-
मश्विना युवमिहासासु नियच्छतम् ॥४१॥ अर्थव० ७५२।१॥

अर्थः—(नः) हमारा (स्वेभिः) अपने [और] (अरणेभिः) पराये लोगोंके साथ (संज्ञानं) मेल और इकट्ठा ज्ञान धारण करनेका व्यवहार हो । हे (अश्विना) अश्वियो ! (युवं) तुम (इह) यहाँ (अस्मासु) हमारे मध्यमें (संज्ञानं) मिलकर ज्ञान-प्राप्तिके व्यवहारको (नि यच्छतु) ढढ़ करो ॥ ५ ॥

परस्पर शान्तिका जबतक व्यवहार न हो, ज्ञानकी उन्नति हो नहीं सकती । लड़ाई और भगद्देमें विद्याका प्रचार रुक जाता है । अतः जब वाचस्पति भगवान्से प्रार्थना करो, तो साथही अपने अन्दर सबके साथ मिलकर ज्ञानको उन्नत करनेकी भी धारणा ढढ़ करो । ज्ञानके कार्योंमें अपने और परायेके भाव मिटा दो । विद्या और ज्ञान सांझे ही समझने चाहिये । इसीमें

विद्वानोंकी शोभा और कीर्ति है । अश्वी, भूमि और आकाशके, सूर्य और चान्दके तथा अन्य कई शास्त्रप्रसिद्ध इकड़े मिलकर जगत्का उपकार करनेवाले देवताओंके जोड़ोंका सांका नाम है । जैसे यह देवता मिलकर सारा सुषिं-यज्ञ चला रहे हैं, मनुष्योंको चाहिये कि ज्ञान-यज्ञमें वे भी मिलकर आहुतियां डाला करें ।

(६) सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि
मनसा दैव्येन । मा धोषा उत् सुर्वहुले विनिर्हते मेषुः
पसदिन्द्रस्याहन्यागते ॥ ४२ ॥

०—२ ॥

अर्थः—(मनसा) मनकेद्वारा (सं-जानामहै) मिलकर ज्ञान प्राप्त करें, (चिकित्वा) ज्ञानकेद्वारा (सं) मिलकर [ज्ञानको उन्नत करें], (दैव्येन) चमकतेहुए (मनसा) मान-सिक बलसे (मा युष्महि) हम अलग कभी न हों । (बहुले) बहुत (विनिर्हते) हानि होनेपर (धोषाः) [रोनेके] शब्द (मा) मत (उत् स्थुः) पैदा हों । (अहनि) दिनके (आगते) आनेपर (इन्द्रस्य) इन्द्रका (इषु) वाण (मा) मत (पस्त) गिरे ॥ ६ ॥

मनहो और चमकता हुआ मन हो । ज्ञानसे ज्ञान बढ़ता है । दीपकसे दीपक प्रकाशित होता है । ज्ञानवान् मनुष्य कौन है ? जो आपत्तिमें हाहाकार नहीं मचाता । उसका मानसिक कोष ऐसे आड़े समयोंके लिये विचित्र शक्तिका संचय किये रखता है । इन्द्रका वाण और वज्र किनपर गिरता है ? जो परीक्षाके समय पूरे नहीं उतरते । अतः प्यारो, सर्वदा यह संकल्प करना चाहिये

कि हम प्रभुके आगे दण्डनीय न बनें । हम ज्ञानीहों और उसके नियमोंका पालन करनेवाले हों । साधारणतया दिन तो बीततेही जाते हैं । पर हर एक व्यक्तिके जीवनमें कभी २ विशेष दिन भी आते हैं । भगवान्, हमारे ज्ञानकी उस समय, मानो, परीक्षा किया करता है । उस परीक्षाके लिये सदा तय्यारी करते रहना चाहिये । और सबसे उत्तम तय्यारी नित्य इस प्रकारसे सोये हुए अपने आपको चेतावनी दे २ कर जगानाही है ।

(७) ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते । एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छ्रुतः ॥४३॥ अर्थव॑ ७१४१॥

अर्थः—[हम] (ऋचं) ज्ञानरूप स्तोत्र [तथा] (साम) शान्तिकारी उपासनाके गीतोंका, (याभ्यां) जिनके द्वारा [विद्वान् लोग] (कर्माणि) सब कर्म (कुर्वते) करते हैं, (यजामहे) धारणा तथा पूजन करते हैं । (पते) यह (सदसि) सभा, [समाज आदि] में (राजतः) चमकते हैं (देवेषु) देवताओं तक (यज्ञं) यज्ञ [के फल] को (यच्छ्रुतः) पहुंचाते हैं ॥ ७ ॥

जो महानुभाव ज्ञान और उपासनाको समझकर कर्म करते हैं, उनको सफलता होती है । ऋचा ज्ञान बढ़ाने वाले स्तोत्र अर्थात् ऋग्वेदका संकेत है । इस वेदमें मुख्यरूपसे वर्णनात्मक ज्ञान है । साम भक्ति, शान्ति, उपासनाके मुख्य साधन सामवेदकी ओर संकेत है । दोनों जीवनको विकसित करनेके लिये आवश्यक हैं । मस्तक चमकताहो और हृदय प्रभुभक्तिके आनन्दसे उच्छ्रूत रहाहो ।

वेद भगवान्की यह शिक्षा है कि सभा, समाज तथा

परिषद् आदिमें इनकीही प्रतिष्ठा होनी चाहिये । वे समाज पूरी उन्नति नहीं कर सकते, जिनमें शारीरिक बल अथवा धनकी तो पूजा होती हो और विद्या तथा शान्त जीवनका निरादर होताहो । उच्च आदर्श यही है कि सुन्दर, सुडौल शरीरके अन्दर उज्ज्वल मन तथा विशाल, भक्तिसे रंगे हुए हृदयका निवास हो ।

यह पूजा और उपकारका नाम है । ज्ञान और भक्तिकी वृद्धिका यह परिणाम होना चाहिये कि देवताओंका यज्ञके साथ संबंध जुड़ा रहे । जब जनतामें उनकी प्रतिष्ठा होगी, लोग उन्हें ध्यानसे सुनेंगे, वे भी प्रसन्न-चित्त होकर यज्ञकी साधनामें लगेही रहेंगे । अतः प्रातः उठकर ज्ञान और भक्तिकी महिमाको चित्तमें धारण करनेका अभ्यास करो ।

(८) क्रचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्वलम् । एष मा तसान्मा हिंसीद् वेदः पृष्ठः शचीपते ॥४४॥ ०—२॥

अर्थः—(यत्) क्योंकि [मैंने] (ऋचं) ऋग्वेद [तथा] (साम) सामवेदसे (हविः) आहुति (ओजः) पराक्रमप्रद सूक्ष्म वीरता (यजुः) कर्म-विधि [तथा] (बलं) बल [के स्वरूप] को [भली भान्ति] (अप्राक्षं) पूजा लिया [और जानकर जीवनयज्ञको आरंभ किया है ।] (तस्मात्) इसलिये (शचीपते) हे सकल शक्तियोंके स्वामिन् जगदीश्वर, (एषः) यह (पृष्ठः) पूजा हुआ (अर्थात्) गुरुकी तरह माना हुआ (मा) मुझे (मा) मत (हिंसीत) मारे ॥ ८ ॥

वेद सच्ची भक्ति तथा ज्ञानका उपदेश करता है । उसीके पाठसे वास्तविक बल और कर्मकी सूक्ष्मताका बोध होता है । जो

मानव उसका आश्रय लेकर जीवनके कार्योंको करता है, उसे विश्वास होना चाहिये कि मेरा किसी प्रकार सेभी नाश नहीं हो सकता । प्रत्येक मनुष्यको प्रातः इस मंत्रका जाप करना चाहिये और दिन भर इसके अनुसार जीवन चलाना चाहिये ।

सत्य०—महाराज, क्या वेद दो ही हैं, ऋग्वेद और सामवेद ?

माया०—प्रसिद्ध तो चार हैं, यजुर्वेद और अर्थवेद भी ।

महा०—सत्य है, वेद चारभी हैं और एकभी है । चारों वेदोंके मंत्रोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जाता है । वर्णनात्मक-स्तोत्रोंको ऋचाएं कहते हैं । भक्तिमें रस पैदा करनेवाली गीतियोंको साम कहते हैं । यजुओंद्वारा कर्मकाण्ड किया जाता है । एकही मंत्र तीनों रूप धारणा कर सकता है । कहीं ऐसाभी माना है कि यजु गद्यमय होते हैं, शेष पद्यमय । अब कर्म तो ज्ञान और उपासनाके मध्यमें आजाता है । ज्ञान उसकी प्रेरणा करता है । भक्ति उसका परिपक्व रस है । अतः यहां ऋग्वेद और सामवेदकाही संकेत किया है । और, अन्तमें सबको मिलाकर वेदकी एकताभी बता दी है ।

वस्तु०—महाराज, जहां लोग वेद न जानते हों, वहां उनका कल्याण कैसेहो ?

महा०—एकवार वेदके विचार चारों और फैल चुके हैं । लोगोंमें अभी तक कई सर्वतन्त्र सिद्धान्तोंका विश्वास पाया जाता है । सत्यको सभी पसन्द करते हैं । असत्यको सब बुरा कहते हैं । यह वैदिक सच्चाइयां हैं, क्योंकि वेदने सबसे पूर्व इनका प्रचार किया । परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अब वेदसे लोगोंका परिचय प्रायः न होनेके तुल्यही है ।

माया०—तो क्या करना चाहिये ।

महा०—मेरा भाव यह है कि जब आपके हृदयमें वेदके प्रति अच्छा पैदा होजावे, तो फिर आप इसको इसी प्रकार आगे २ पहुंचाते जावें । हमारा इतनाही कर्तव्य है। अच्छा तो, मैं आपके सामने आज प्रतिदिनके जीवनको आरंभ करते हुए धारण करने योग्य वैदिक भावनाओंको दर्शा रहा हूं । और, सुनिप ।

(९) यदमे तपसा तप उपतप्यामहे तपः । प्रियाः
श्रुतस्य भूयासायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ ४५ ॥

अर्थव० ७ । ६१ । १ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप, प्रभो ! (यत्) क्योंकि [हम] (तपसा) तप द्वारा (तपः) तप [और] (तपः) तप (उप-तप्यामहे) अच्छी तरहसे तपते हैं । [इसलिये हमारी यह भावना है कि हमारा साधन सफलहो और हम] (श्रुतस्य) ज्ञानके (प्रियाः) प्यारे (आयुष्मन्तः) दीर्घि आयुचाले [तथा] (सुमेधसः) तीव्र बुद्धिवाले (भूयास्म) होवें ॥ ६ ॥

(१०) अग्ने तपस्तप्यामह उप तप्यामहे तपः । श्रुतानि
शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ ४६ ॥ ०—२ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) (वयं) हम (आयुष्मन्तः) दीर्घि काल तक जीते हुए (सुमेधसः) अच्छी बुद्धिवाले (श्रुतानि) ज्ञानकी बातोंको (श्रुणवन्तः) सुनते हुए (तपः) तप (तप्यामहे) तपते हैं, (तपः) तप (उप तप्यामहे) आपसे समीपका संबंध जोड़ कर तपते हैं ॥ १० ॥

सज्जनो, इन भावोंको सदा अपने हृदयमें स्थान देना होगा । तप तपनेका यह फल होना चाहिये कि हमारी आयु, बुद्धि और विद्या बढ़ें । हमारी रुचि मानसिक विकासकी ओर अधिक हो । और फिर, जब कुच्छ स्वाद आने लगे, तो फिर उसी साधनका सहारा पकड़े और तप करें । अब ज्ञान तथा ईश्वरके अधिक समीप जाकर, विशेष साधना करें और अधिक लाभ प्राप्त करें । नित्य हमारा ज्ञानके प्यारोंसे मेलहो और हम स्वयंभी ज्ञानके प्यारे बनें । कितनी सुन्दर भावना है । नित्य अभ्यास करनेसे यह विचार स्वभावके अंग बन जाते हैं । हमारी मानसिक प्रकृतिही ऐसी बन जाती है । बाहिरका जीवन इसी चित्रको प्रतिविवित करने लग जाता है । अन्दर बाहिर एक होनाते हैं ।

(११) शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति ।
मा ते युयोम संदृशः ॥ ४७ ॥ अर्थव० ७ । ६८ । ३ ॥

अर्थः—हे (सरस्वति) विद्यामयि देवते ! (नः) हमारे प्रति (शिवा) मंगलरूप (शंतमा) अतिकल्याणकारी तथा (सुमृडीका) सुख देनेवाली (भव) होवो । [हम] (ते) तेरे (संदृशः) खुले दर्शनसे [कभी भी] (मा) मत (युयोम) वंचित रहें ॥ ११ ॥

हे भगवति, सत्यज्ञानरूपे, सरस्वति ! सदा अपने दर्शनोंसे कृतार्थ करती रहो । वेद अपने भक्तोंको कितना विद्यासे प्रेम करना सिखाता है ? कोई विज्ञानका धातक वैदिकधर्मी नहीं समझा जासकता । सच्चा आर्य सदा विद्या और प्रकाशका पक्ष-पोषक होना चाहिये ।

(१२) सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे ताय-
माने । सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वीर्यदात् ॥४८॥

अर्थव० १८ । ४ । ४५ ॥

अर्थः—(देवयन्तः) देवताओंकी कामना करतेहुए [भक्त-
लोग] (सरस्वतीं) सरस्वतीको (हवन्ते) बुलाते हैं, (अध्वरे)
[सारे संसारकी रक्षा करनेवाले] यज्ञके (तायमाने) विस्तारके
होनेपर (सरस्वतीं) सरस्वतीको [याजक लोग बुलाते
हैं] । (सुकृतः) पुण्यात्मा (सरस्वतीं) सरस्वतीको (हवन्ते)
बुलाते हैं । (सरस्वती) सरस्वती (दाशुषे) दानशीलको (वीर्य)
बल (दात्) देती है ॥ १२ ॥

सरस्वतीकी आराधनाके विना न विद्वान् प्रसन्न होते हैं,
न प्रभु निहाल करते हैं और न ही भौतिक शक्तियां पूरा लाभ
पहुंचाती हैं । साधारण मनुष्यकेलिये आग केवल पानी गरम
करती और रोटी पकाती है, परन्तु विज्ञानी क्या का क्या बना
डालता है । यज्ञोंका पूरा पूरा फल, सूक्ष्म तत्त्व-विद्या और
आध्यात्मिक-ज्ञानके विना प्राप्त नहीं होसकता । यह सरस्वती
ही है जो भले, बुरेकी पहचान बताती है । और, प्यारे सज्जनों,
सरस्वती ही दानीके अन्दर ऐसा बल देती है कि वह सब
कंज्जसी और संकोचको त्यागकर दरिद्रोंकी पालनामें लग जाता
है । वह पात्र कुपात्रका विवेक कर, सुदानको अपना भूषण
बनाता है । अधिक क्या, जो कुच्छ भी भूत, वर्तमान और
भविष्यत् है, वह इसी सर्वप्रकाशक, बलोंके बलके सहारे चलता
है । यह प्रभुका दिव्य स्वरूप है । यही मधुर प्रसाद है, जिसकी
भगवानके भक्त सदा कामना करते हैं ।

भूषण और अलंकार हैं। वे वास्तवमें हमारे जोवनके आधार हैं। उनके बिना हमारी दशा उन सूखी हुई, पुरानी नदियोंके समान शोचनीय हो जाती है, जहाँ अब पानी नहीं आता।

लोक०—महाराज, ऐसे गुरु कहांसे आये?

महा०—वेदा, प्रभुकी रचनामें सब सामान मौजूद हैं। पुरुषार्थ करनेपर प्रत्येक बात सिद्ध हो जाती है। प्यारे, क्या तुम प्रयत्न करो, तो ऐसा जीवन धारण नहीं कर सकते?

लोक०—हमारे ऐसे भाग्य कहां?

महा०—यही तो तुम्हारी भूल है। वेद प्रत्येक व्यक्तिके सामने एक जैसी बात रखता है। जो उसपर फूल चढ़ावेगा, वही तर जावेगा। मनको उज्ज्वल करो। बुद्धिको तीव्र करो। अपने आपको जगाओ। नींदको त्यागो। सरस्वतीकी आराधना करो। भगवानका ध्यान करो। भावनाको दृढ़ करो। यही मार्ग है। इसपर चले चलो। यात्रा लम्बी है। भय मत करो। एक दिन चोटीपर चढ़ जाओगे।

सत्य०—महाराज, बड़ा ऊँचा आदर्श है। यात्रा बड़ी लम्बी है। मार्गमें कोई सहायक दिखाई नहीं देता।

महा०—अरे, भोले भाई, जब मार्गपर मनुष्य पड़ता है, तो कई अपने जैसे साधक मिल जाते हैं। परस्पर हाथ बटाते हुए, दूसरेकी सहायता करतेहुए चले चलो। अकेले हो, तब भी चिन्ता मत करो। ठीक साधन-सम्पत्तिको पैदा करो। आज जो विचार बताये हैं, उनका निरन्तर चिन्तन किया करो। कलसे उन साधनोंका वर्णन करूँगा, जिनको धारण करके इस प्रकारका यह सरस्वती-जागरण तुम्हारेलिये सदा सहारा बना रहेगा।

अथ मार्गप्रदर्शनो नाम
तृतीय उच्छ्वासः ।

चमकते हुए दीपक का जो सहारा मिलता है, वही हमारी दशामें उच्च पुरुषों के जीवनों के पाठका समझो ।

सत्य०—महाराज, प्रत्येक मनुष्यमें कोई न कोई दुर्बलता पायी जाती है । क्या इस कारण से विषयुक्त अन्नकी तरह यह आपका वताया हुआ साधन हानि तो न करेगा ?

माया०—तो क्या सब ऋषि, मुनि और महात्मा दुर्बलतासे दूषित थे । कोई सोलह कला समृद्धि पुरुष नहीं हुआ ?

महा०—प्यारो, पूर्णता तो प्रभुका ही नाम है । देहधारी मनुष्यमें तो राग, द्वेष, मोह आदि द्वारा कभी न कभी निर्वलता आ ही जाती है । हमारी अवस्था तो कढ़ाई पर चढ़ाये हुए दूध के समान उबालों से भरी हुई है । परन्तु जो सच्चे साधक होते हैं, वे इससे घबराते नहीं । वे इस रहस्यको समझते हुए दिन रात साधनमें लगे रहते हैं । गिर गिरकर ही तो सवार पक्का होता है । मूर्ख वह है जो गिरता हुआ अपनी गिरावट को नहीं जानता । विद्वान् उसे खूब समझता है और सदा यज्ञशील बना रहता है । हम सब साधक हैं । हमारे लिये इन महापुरुषों की गिरावट और फिर उनका सम्मलना, ऊपर उठना और चमकना शिक्षा से भरा हुआ होता है । हमारे अन्दर पूरी सहानुभूति पैदा होती है और अपने मनको उसी अवस्थामें लाकर हम अनुभव करने लगते हैं कि सारी घटना हमारे साथ ही बीत रही है ।

उप०—महाराज, महापुरुषों के जीवन का निचोड़ क्या है ?

महा०—उपरामजी, धारणा की दृढ़ता और अपने सामने सदा ऊंचा लक्ष्य रखे रहना ही सब महापुरुषों का सामान्य चिह्न

है। वे कहीं पैदा हुए हों, उनके सामने कितनी ही भिन्न भिन्न समस्याएं रही हों, यह गुण उनमें सदा चमकता रहा है। इसके बिना वे कभी अपने जीवनको हमारेलिये शिक्षाका स्रोत न बना सकते। इसी विषयमें आज वेद-सन्देश भी सुनिये। देखो, वेदभगवान् किस प्रकारसे संकल्प और धारणाको दृढ़ करनेकी प्रेरणा करता है।

(१) सूरिसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि । आप्नुहि
श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५१ ॥ अर्थव० २ । ११ । ४ ॥

अर्थः—[तुम] (सूरि:) प्रेरणासे युक्त (असि) हो, (वर्चोः-धा:) प्रकाशके धारण करनेवाले (असि) हो, (तनू-पानो) शरीरकी रक्षा करनेवाले (असि) हो। (श्रेयांसं) [वर्तमानसे] अधिक अच्छी [अवस्था] को (आप्नुहि) प्राप्त होवो। (समं) [अपने] तुल्यसे (अति-क्राम) बढ़ो ॥ १ ॥

(२) शुक्रोसि आजोसि खरसि ज्योतिरसि । आप्नुहि
श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५२ ॥ अर्थव० २ । ११ । ५ ॥

अर्थः—[तुम] (शुक्रः) प्रकाशयुक्त (असि) हो, (आजः) दीप्तियुक्त (असि) हो, (स्वः) सुगतिवाले [सुखस्वरूप] (असि) हो, (ज्योतिः) चमक (असि) हो। (श्रेयांसं) [अपने से] अच्छेको (आप्नुहि) प्राप्त होवो। (समं) [अपने] तुल्यसे (अति-क्राम) ऊपर उठो ॥ २ ॥

यह भाव हैं, जिनका चिन्तन सब साधकोंको अपने सम्बन्धमें सदा करना चाहिये। हम प्रेरणासे युक्त हैं। हमारे हृदयमें सरस्वतीका मानस-सरोवर थलक-थलक कर रहा है।

हम अन्धेरेमें विचरनेवाले चमगादड़ और उल्लू आदिकी तरह तुच्छ जन्तु नहीं। हमारा आगा और पीछा प्रकाशसे सदा युक्त है। हम संसारके गगन-तलपर चमकतेहुए तारे हैं। शरीर दुर्बल न रहेगा। मन निर्बल न रहेगा। हम अपने बलसे अपने साधनोंको बलवान् बनाएंगे, और वर्तमान अवस्थासे ऊपर उन्नत दशाको प्राप्त करेंगे। हम ऐसे ही पड़े क्यों सड़ेंगे। हमारे साथी आगे निकल रहे हैं। हम उनसे भी आगे निकलेंगे। हमारा उत्साह और पुरुषार्थ सदा हमारा साथ देगा। हम विजयकेलिये आये हैं। कभी पराजित होकर पीठ न दिखा-वेंगे। पाप-स्वभाव शत्रु हमारे साथ टाकरा न लगावें। हमारा वेद हमें क्या सिखाता है?

(३) इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वा हृदा शोचता
जोहवीमि । वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन
इदं हिनस्ति ॥ ५३ ॥

अर्थव० २ । १२ । ३ ॥

अर्थः—हे (इन्द्र) पेश्वर्यके स्वामिन, (सोम-प) [प्रेरणा करनेवाली] सोम [आदि वस्तुओं] के रक्तक ! (यत्) जब (त्वा) तुम्हे (शोचता) शोकातुर (हृदा) हृदयद्वारा (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूँ, [तो मेरे] इस [निश्चय] को [भी] (शृणुहि) सुन लेना। (यः) जो (अस्माकं) हमारे (इदं) इस (मनः) मनको (हिनस्ति) मारता है, (तं) उसे (वृश्चामि) [मैं] काट डालूंगा, (इव) जैसे (वृक्षं) वृक्षको (कुलिशेन) कुल्हाड़ेसे [काट डालते हैं] ॥ ३ ॥

हमारे अन्दर आत्म-विश्वास होना चाहिये कि कोई

हमारी मानसिक हत्या नहीं कर सकता । हम सत्यके भक्त हैं और सत्यपर ही डटे रहेंगे । जो हत्यारा हमारे मार्गमें खड़ा होनेका साहस करेगा, उसे अपने नाशके लिये तथ्यार रहना चाहिये ।

(४) द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वेदेवासो
अनु मा रभध्वम् । अंगिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्ढ-
त्वपकामस्य कर्ता ॥ ५४ ॥

अर्थव०—५ ॥

अर्थः—हे (द्यावा-पृथिवी) भूमि और आकाश, (मा) मेरे (अनु) ऊपर (दीधीथां) प्रकाश करो, हे (विश्वेदेवासः) सकल देव-समूह ! (मा) मुझे (अनु-रभध्वं) पूरा पूरा सहारा दो । हे (अंगिरसः) प्राणबलसे युक्त, (पितरः) सबकी रक्षा करनेवाले, (सोम्यासः) सौम्य स्वभाववाले विद्वानो ! (अपकामस्य) बुरी कामनाका (कर्ता) करनेवाला (पापं) हानिको (आर्ढतु) प्राप्त हो ॥ ४ ॥

कितना सुन्दर विवेक कर दिया है । प्रत्येक आर्यको इस बातका विश्वास होना चाहिये कि पापका फल बुरा ही होता है । उसे अपने हृदयमें प्राकृतिक और सामाजिक देवताओंकी संगतिद्वारा इतना बल पैदा करना चाहिये कि जैसे समुद्रकी प्रबल लहरें चटानोंके साथ टकरें मार-मारकर रह जाती हैं, ऐसे ही हमारे अन्दर और बाहिरके शत्रु उबल-उबलकर भाग हो जावें, पर हमारा कुच्छ न विगाढ़ सकें ।

(५) मद्यं यजन्तु मम यानि हव्याकूरिः सत्या मनसो
मे अस्तु । एनो मा निगां कतमचनाहं विश्वेदेवासो अधि-
वोचता नः ॥ ५५ ॥

ऋक्० १० । १२८ । ४ ॥

अर्थः—(मम) मेरे (यानि) जितने (हव्या) यज्ञ [कियेहुए हैं, वे] (महां) मुर्ख (यजन्तु) [इष्ट फलके साथ] जोड़ दें, (मे) मेरे (मनसः) मनकी (आकृतिः) भावना (सत्या) सच्ची (अस्तु) हो । (अहं) मैं (कतमतचन) किसी भी (एनः) पापमें (मा) मत (निनां) फंसू, (विश्वेदेवासः) सार देवता (नः) हमें (अधि-वोचत) शिक्षा तथा सहायता देते रहें ॥ ५ ॥

यज्ञमें हविका डालना आध्यात्मिक त्यागका संकेत है * । जो इस गृह मर्मको समझ कर करता है, उसका यज्ञ उसके लिये पूर्ण फलका दाता होता है । जीवनमें सफल होनेका यह एक चिह्न है कि हप्तारी मानसिक भावनाएं सच्ची हों । धारणा इतनी धर्मानुसार तथा दृढ़ हो कि उसका परिणाम सदा अच्छा ही निकले । इसीका नाम लिद्धि है । सदा यह विचार सम्मुख रखना चाहिये कि हम किसी प्रकारके पापके फंदेमें न फंसें । पापके असंख्यरूप हैं । पूर्व कहे प्रकारसे सरस्वती-जागरण-द्वारा पुण्य और पापमें विवेक करते हुए, पापसे बचनेका संकल्प बढ़ करते रहें । इसका मुख्य उपाय सत्संगति

। इसलिये वेद भगवान् इसीपर अन्तिम पादमें विशेष बल देता है । भौतिक देवता चुप चाप उपदेश कर रहे हैं । लेने वालों, कुच्छ ले लो । सामाजिक देवता वाणीसे बोलते हैं, पर उससे भी अधिक अपने व्यवहार तथा आचरणसे बोलते हैं । धन्य हैं वे नर नारी, जिनके कान इन देवताओंके पवित्र

* इस विषयका विस्तार देखो, वैदिकाश्रम ग्रन्थमाला संख्या २, देव यज्ञप्रदीपिकाके अन्दर ।

शब्दोंसे नित्य शुद्ध होते रहते हैं । यह मानसिक तथा आत्मिक भोजन है, इसके बिना शरीरके कार्योंके चलतेहुए भी हम सुरदे हो जाते हैं ॥

(६) पर्यावर्ते दुष्पन्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृष्णे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ ५६ ॥

अर्थव० ७ । १०० । १ ॥

अर्थः—[मैं] (दुः-स्वप्न्यात्) बुरे स्वप्नकी दशासे (स्वप्न्यात्) स्वप्नमें होनेवाले (पापात्) पापसे (अभूत्याः) [सर्व प्रकारकी] मन्द अवस्थासे (परि-आवर्ते) वापिस लौटता हूं । (अहं) मैं (ब्रह्म) वैदिकज्ञान तथा ध्यानको (अन्तरं) ओट (कृश्णे) बनाता हूं । (स्वप्नमुखाः) स्वप्नमें दिखाई देनेवाले (शुचः) शोकोंको (परा) दूर [करता हूं) ॥ ६ ॥

स्वप्न क्या है ? जागृतका ही उलटा सीधा नाच है । दिनके भाव तथा संकल्प स्वप्नावस्थामें आ दबाते हैं । अनेक बार हम व्याकुल हो चौंक उठते हैं * । अनेक प्रकारके उस समय पढ़े-पढ़े पाप करते और फल भोगते हैं । यह हमारे जीवनके टेढ़ेपनका चिह्न है । वेदका उपदेश है, ज्ञान और ध्यानको, वेद और आंकारके जापको ओट बनाकर अपनी रक्षा करो । दीवारकी ओटमें धूपके तापसे जैसे बच सकते हो, छातेकी ओटमें वर्षाकी बूढ़ाड़से जैसे बच सकते हो, ऐसे ही विश्वास रखो कि वैदिक-विचारोंकी सहायतासे स्वप्नके दुःखों

* इसके साथ देखो, वेद-सन्देश, प्रथम-भाग, द्वितीय-संस्करण, पृष्ठ-संख्या ३०—३३ ।

और उनके मूलकारण, जागृतके कुसंस्कारोंकी मारसे वच सकते हो । सज्जनो, सोनेसे पूर्व यह भावना करो कि हम प्रभुकी द्वच-द्वायामें निवास करते हैं, हमें कोई भय नहीं, कोई दुःख नहीं । निद्रा अच्छी आवेगी और जिस अशान्तिकी ओर वेद इशारा कर रहा है, उससे छूट जाओगे ।

(७) अप्रक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्त्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ ५७ ॥

अर्थव० ७ । १०५ । १ ॥

अर्थः—(पौरुषेयात) मनुष्यसम्बन्धी [साधारण दुर्बल-ताओं, विकारों तथा पाशव-व्यवहारों] से (अप्रक्रामन्) दूर रहकर (दैव्य) देवताओंके (वचः) शब्दको (वृणानः) ग्रहण करतेहुए (विश्वेभिः) सारे (सखिभिः) साथियोंके (सह) साथ [हे साधक] (प्रणीतीः) अच्छी नीतियोंका (अभ्यावर्त्तस्व) अच्छी तरहसे पालन कर ॥ ७ ॥

सज्जनो, यहाँ वेद भगवान् मनुष्य और देवतामें विवेक करताहुआ बतलाता है कि मनुष्य ही अपनी पाशविक-प्रवृत्तिका त्याग करके और दिव्य सम्पत्तिको धारण करके देवता बन जाता है । देवता कोई अलग सुष्ठि नहीं । जो जो विद्वान् होकर ऊपर उठ जाता है, वही देवता कहलाता है । हाँ, वेद यह स्पष्ट कहता है कि अच्छे प्रकारसे जीवनका चलाना अत्यावश्यक है । देवताओंकी वाणी ज्ञानकी वाणी है । वेदका पवित्र वचन दिव्य वचन है । परन्तु इसका ग्रहण करना ही पर्याप्त मत समझो । वीर, धीर होकर, शनैः शनैः उसमें कहे उपदेशोपर चलो ।

अन्तमें वह बात कही है जिसे वर्तमान आर्य-लोग सर्वथा भूल चुके हैं। हम अब समझते हैं कि चोरी, डाका आदि कुकम ही मिलकर होते हैं। पर नहीं, वेद भगवानका यह आशय है, कि अच्छे कार्य भी मिलकर ही सफल होते हैं। सारे सन्मार्गके साधक परस्पर सहायक होकर अपना और दूसरोंका कल्याण करते हैं। नेकी और भलेका संगठन ही तो सब सामाजिक रोगोंका एकमात्र औषध है।

(८) यदस्मृति चक्रम किंचिदग्य उपारिम चरणे जात-
वेदः । ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृत-
त्वमस्तु नः ॥ ५८ ॥

अर्थव० ७ । १०६ । १ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप (जातवेदः) सबके जाननेवाले भगवन् ! (यत्) जो (किंचित्) कुच्छ [अनिष्ट] (अस्मृति) भूलके कारण [हमने] (चक्रम) कर डाला है, (चरणे) व्यवहारमें (उपारिम) चूक की है, (ततः) उस [भूल-चूक] से हे (प्रचेतः) उत्तम ज्ञानवाले, (नः) हमें (पाहि) बचा । (शुभे) कल्याणकेलिये (नः) हम [तेरे] (सखिभ्यः) मित्रोंकेलिये (अमृतत्वं) अमृतपद (अस्तु) हो ॥ ८ ॥

प्यारो, यह वही बात है, जिसका आज आरम्भमें इशारा किया जाचुका है। मनुष्यसे किसी न किसी प्रकारसे भूल-चूक होती ही रहती है। तो क्या ऐसी अवस्थामें वह छब मरे । वेदका धर्म इसके विरुद्ध है। परमात्माकी मित्रतासे मन्द संस्कार शनैः शनैः अच्छे होजाते हैं। इसी आशयसे वेद भगवान् कितना बड़ा आश्वासन देता है, जब भूले, भटके लोगोंके

सामने भी वह अमृतपदकी प्राप्तिका ऊंचा आदर्श रखता है । क्यों न हो, मनुष्यके आत्मामें तो कोई विकार नहीं आसकता । यह तो अन्तःकरणका ही आवरण है । सच्चे ज्ञान और भगवान्के प्रसादसे जब वह दर्पण निर्मल हुआ, तो वस सब कल्याण ही कल्याण है । अतः सच्चे साधकोंको कभी हताशा और निराश न होना चाहिये । भावनाको स्थिर करके लगे रहना चाहिये ।

(९) आकृतिं देवीं सुभगां पुरोदधे चित्तस्य माता
सुहवा नो अस्तु । यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु वि-
देयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥ ५९ ॥ अथर्व० १६।४।२॥

अर्थः—[मैं] (देवीं) प्रकाशमान (आकृतिं) मान-
सिक विचारमयी भावनाको, [जो कि] (सुभगां) पेश्वर्यकी
दात्री है, (परः-दधे) सम्मुख रखता हूँ, [वह] (चित्तस्य)
चित्तकी (माता) माता (नः) हमारेलिये (सुहवा) बुलानेमें
आसान (अस्तु) हो । (यां) जिस (आशां) आशाको (एमि)
लक्ष्य बनाऊं, (सा) वह (केवली) पूर्णरूपसे (मे) मुझे
(अस्तु) प्राप्त हो । (एनां) इसे (मनसि) मनमें (प्रविष्टां) प्रविष्ट
हुई-हुईको (विदेयम्) पाऊं ॥ ६ ॥

दृढ़ भावना ही चित्तकी सम्पूर्ण शक्तियोंके विकासके
करनेवाली माता है । इसीके बलसे हम अपनी सब आशाओं
और कामनाओंको पूरा करते हैं । भावना दृढ़ हो, तो समझो
कि हृदयमें वह आशा पहिले ही पूरी होनुकी है । स्थलप्राप्ति
चाहे पीछे हो, परन्तु अपने अन्दर इतना विश्वास होता है कि

सृद्धमरूपसे प्राप्तिका आनन्द पहिलेसे ही आरहा होता है । प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि इस मानसिक शक्तियोंकी माताकी ठीक ठीक पूजा करना सीखे । इसके बिना मार्गका खुलना अति कठिन होगा ।

(१०) आकूत्या नो वृहस्पत आकूत्या न उपागहि ।
अथो भगस्य नो धेयथो नः सुहवो भव ॥६०॥ ०—३॥

अर्थः—हे (वृहस्पते) सब विद्याओंके पालक देव ! (नः) हमें (आकूत्या) सर्व विद्याओंकी सारमयी भावनाके साथ (उपागहि) प्राप्त होवो । (अथ-उ) और (नः) हमें (भगस्य) ऐश्वर्य (धेहि) धारण करा (अथ-उ) और (नः) हमारेलिये (सुहवः) आसानीसे बुलाये जासकनेवाले (भव) बनो ॥१०॥

सज्जनो, वह कौनसा ऐश्वर्य है, जिसे यह आकृति देवी नहीं दिला सकती । अधिनित घटनाओंको घटानेवाली, आश्र्वय-रूप चमत्कारोंकी करानेवाली, पशुसे मनुष्य और मनुष्यसे देवता बनानेवाली, निद्राको जागृति और जागृतिको पुरुषार्थमें बदलनेवाली, इस देवीकी सदा आराधना करते रहना । इसे आपने हृदय-मन्दिरमें आदरका स्थान देना । यह सब ऐश्वर्य और कोषोंकी ताली है । यह भगवानके चरणोंके साथ हमारे चित्तोंको जोड़नेवाली सुनहरी डोरी है । यह मानवी शक्तियोंकी महाशक्ति है । प्यारो, इसका साथ दो और इसकी सहायता लो । देखो, यह क्याका क्या बना देती है । तुम उत्तरिके मार्गके पथिक हो । अच्छी बात है । वेद तुम्हें उपदेश करता है कि सबसे पहिले अपनी धारणा पक्की करलो ।

ललकारकर कह दो कि हमारे साथ तुम्हारी मित्रता न हो सकेगी । कोई तुम्हारा संबंधी पापी है, तो उसके पापको निकाल दो । वह व्यक्ति शृणा करने योग्य नहीं । उसपर दया करो और सदा उसका सहारा बनो । सुनिये, वेद भगवानके शब्द तो बड़े स्पष्ट ही होते हैं ।

(१) न बहवः समशक्नार्भका अभिदाधृषुः । वेणो-
रद्वा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ६१ ॥

अथर्व० १ । २७ । ३ ॥

अर्थः—(बहवः) बहुत से [मिले हुए कुच्छ] (न) नहीं (सम-अशक्न) कर सके, (न) नहीं (अर्भका:) थोड़े (अभि) सामने (दाधृषुः) खड़े हो सके । (वेणोः) बांसकी (अद्वा: इव) सुखी शाखाओंकी तरह (अघायवः) पापी लोग (अभितः) दोनों तरह से (असमृद्धाः) असफल रहे हैं ॥ १ ॥

हरा २ बांस बदलता हुआ दिखाई देता है, पर किनारोंपर पड़ी हुई शाखाएं कुच्छ कालके पीछे न बढ़ती हैं और न फूलती हैं । इसी प्रकार पापीका जीवन सूखे बांसकी तरह नीरस है पापी लोग चाहे मिल २ कर समृह बनावें और चाहे अलग २ अनर्थ किया करें, उनका कल्याण नहीं हो सकता । पापका परिणाम सदा बुरा ही होता है । इसलिये हम पापका साथ छोड़ते हैं । इसे अगले मंत्रमें खोलकर कहा है ।

(२) दौष्पत्नं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः । दु-
र्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ६२ ॥

अथर्व० ४ । १७ । ५ ॥

अर्थः—(हम) (अस्मत्) अपने अन्दरसे (दौष्ट्यन्यं) बुरे सोनेको (दौर्जीवित्यं) बुरे जीवनको (रक्षः) राज्ञसी भावको (अभ्वं) अनर्थको (अराच्यः) कंगलेपनोंको (सर्वाः) सारी (दुर्नाम्नीः) बुरे नामोंवाली (दुर्वाचः) बुरी वाणियोंवाली [पाप-वृत्तियों] को (नाशयामसि) नाश करते हैं ॥ २ ॥

उस पक्की धारणाको अब लगा दो । इन निन्दित बातोंमेंसे तुम्हारे अन्दर कोई प्रवेश न कर सके । दिन भर अच्छा कर्म करो, ताकि नींद अच्छी आवे । राज्ञसी भावोंका त्याग करो । सदा अच्छे विचारोंको बढ़ाओ और बुरी वृत्तियोंको दबाते रहो । क्यों सत्यकाम, अब तो सङ्क दिखाई देती है ?

सत्य०—हाँ, महाराज ! वह तो मेरी घबराहट ही थी ।

महा०—और सुनते चलिये ।

(३) अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति ।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिकति ॥ ६३ ॥

अर्थव० ४ । १८ । ३ ॥

अर्थः—(यः) जो (अमा) अपने हाँ (पाप्मानं) पापको (कृत्वा) करके (तेन) उसके द्वारा (अन्यं) दूसरेको (जिघांसति) हानि पहुंचाना चाहता है, [वह भूलकर रहा है, शीघ्र ही] (तस्यां) उसकी शक्तिके (दग्धायां) नष्ट हो जानेपर (बहुलाः) बहुतसे (अश्मानः) पत्थर [उसके सिरपर] (फट् करिकति) फट् २ करके गिराते हैं ॥ ३ ॥

पापी दूसरोंके लिये घरपर अनिष्ट सोचता और गढ़े खोदता है पर, मूर्ख जानता नहीं कि पदेंके पीछे उसका नाश

कितना समीप होकर उसपर धूर रहा है । कुच्छ समय तक तो प्रतीत होता है कि पापीके कार्य सिद्ध हो रहे हैं पर, वेद यह विश्वास दिलाता है कि पापका अन्त बुरा ही है* ।

(४) सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् । अस्तुतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ ६४ ॥ अथर्व० ५ । ६ । ७ ॥

अर्थः—(सूर्यः) सूर्य (मे) मेरी (चक्षुः) आंख है, (वातः) वायु (प्राणः) प्राण है, (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (आत्मा) है, (पृथिवी) (शरीरं) शरीर है । (अहं) मैं (नाम) वस्तुतः (अस्तुतः) न ढका हुआ (अयं) विद्यमान (अस्मि) हूँ । (सः) वह (मैं) (आत्मानं) अपने आपको (गोपीथाय) इन्द्रियोंकी पूर्ण उन्नतिकेलिये (द्यावा-पृथिवीभ्यां) भूमि और आकाशके सामने (निदधे) रखता हूँ, [वे मुझ पर पूरा प्रभाव डालें] ॥६४॥

पापमें अरुचि पैदा करके वेद साधकको उपदेश करता है कि वह अपने अन्दर पूर्ण शक्तिकी लहरको अनुभव करे ।

* मनुमहाराजने भी इस भावका विस्तार किया है, देखो,

“ न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।

अधार्मिकाणां पापानामाशुपद्यन्विपर्ययम् ॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।

शनैरावत्तमानस्तु कर्तुमूलानि कृन्तति ॥

अधर्मेणैधते तावत्तो भद्राणि पश्यति ।

ततः सपल्लाभ्ययति समूलस्तु विनश्यति ॥

मनु० ४।१७१,१७२, १७३ ॥

विस्तृत भौतिक देवताओंके सामने निवास करताहुआ, विशेष शक्ति और बलका संग्रह करे । उसे विश्वास होना चाहिये कि अब पाप मुझे दबा नहीं सकता । पूर्व त्रुटियोंके कारण जो जो कमी होगयी है, उसे अब पुनः पूर्ण करनेका यत्न करे । प्रकृतिके सुन्दर उद्यानमें शुद्ध जल और वायुका सेवन करे और धार्मिक भावोंको उन्नत करे । यह सब रोगोंको दूर करनेवाली दिव्य ओषधि है । हमारे चारों ओर पवित्रतासे युक्त होकर सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, पृथिवी और अग्नि आदि भूत संसारका उपकार कर रहे हैं । सज्जनो, देखो, वेदका उपदेश है कि मनुष्य अपने ईर्द-गिर्दकी अद्भुत रचनाके साथ इस पवित्रताको ग्रहण करनेकेलिये पूर्णतया एकज्ञान होकर रहे । सुनो ।

(५) पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ ६५ ॥

अर्थव० ६ । १६ । १ ॥

अर्थ:—(मा) मुझे (देवजनाः) देवजन (पुनन्तु) पवित्र करें । (मनवः) मननशील विद्वान् (धिया) बुद्धिद्वारा (पुनन्तु) पवित्र करें । (विश्वा) सारे (भूतानि) भूत (पुनन्तु) पवित्र करें । (पवमानः) पवित्र करनेवाला भगवान् (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे ॥ ५ ॥

परमेश्वर तथा उसकी सोमादि विभूतियां तो सदा पवित्र करती ही रहती हैं । मनुष्य अपनी अविद्याके कारण उनके अच्छे प्रभावसे बच्चित रहता है । पूर्व कहे प्रकारसे अन्धकारको दूर करना तथा इन शक्तियोंसे लाभ उठानेका

संकल्प दृढ़ करना ही इस प्रार्थनाको सिद्ध करनेका मुख्य साधन है ।

(६) पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे । अथो अरिष्टतातये ॥ ६६ ॥

०—२ ॥

अर्थः—(पवमानः) पवित्र करनेवाला भगवान् (क्रत्वे) पुरुषार्थ (दक्षाय) बल (जीवसे) जीवन-शक्ति (अथ-उ) और इसी प्रकार (अरिष्टतातये) आरोग्यके [लाभके] लिये (मा) मुक्ते (पुनातु) पवित्र करे ॥ ६ ॥

हम पवित्र क्यों हों ? इस प्रश्नका वेद भगवान् कितना पूर्ण उत्तर देता है । पवित्र रहनेसे शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य बढ़ता है । स्वस्थ शरीरके अन्दर स्वस्थ मनका निवास हो और उसमें शुद्ध जीवात्मा रहकर जीवन-यात्राको पूरा करे, तो क्यों न उसका लक्ष्य पूरा हो ? अपवित्र रहनेसे न केवल शरीरको रोग द्वाते हैं, बरन बुद्धिपर भी आवरण आजाता है । यह पवित्रता स्थायीरूपको कैसे धारण करे ? इसका उत्तर सुनो ।

(७) उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च ।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥ ६७ ॥

०—३ ॥

अर्थः—हे (देव) प्रकाशस्वरूप (सवितः) प्रेरणा करने वाले भगवन् ! (पवित्रेण) पवित्र करनेवाले [अपने तेज] (च) और (सवेन) प्रेरणा [तथा पुरुषार्थ] (उभाभ्यां) दोनोंकेद्वारा (अस्मान्) हमें (पुनीहि) पवित्र कर, [ताकि] (चक्षसे) [हम अपने मार्गको ठीक ठीक] देख सकें ॥ ७ ॥

पानीका कुआं भरा पढ़ा है । ऊपर सूर्यका प्रकाश नित्य होता है । परन्तु लोगोंने पुरुषार्थ छोड़कर नलके लगवाकर, कुण्डसे पानी निकालना बन्द कर दिया है । आपको पता है, वह पानी समय पाकर सड़ने लगेगा । सूर्यका तेज पवित्र करनेवाला है । पर वह पर्याप्त नहीं । पानी निकलता रहेगा, तो कुआं शुद्ध रहेगा । यही अवस्था तालाबकी है । पुराना पानी निकालो, नया डालते रहो । सज्जनो, यही तुम्हारे शरीरकी बात है । आजका भोजन खाया जाकर अपना कार्य करके शरीरमें रच जाता है । स्वस्थ रहना चाहो, तो यह अवश्य होगा कि शरीरके सर्व प्रकारके मलका बाहिर निकास हो और नयी आवश्यकताओंकेलिये नया भोजन अन्दर जाये । यही अवस्था मानसिक सरोबरकी है । आज एक बालक पढ़ने बैठता है । घरमें सम्बधियोंके आयेहुए पुराने पत्रों और चिट्ठियोंको भी बहुमूल्य पुस्तकें और विद्याके चिह्न समझकर पाठशालामें अपने बालोपदेशके साथ बांधकर लेजाता है । कुच्छु वर्षोंके पीछे उसके मेज़के नीचे पड़ीहुई रद्दीकी टोकरीमें बैसे ही फाड़-फाड़कर फैकेहुए पत्रोंको उसका लड़का या छोटा भाई उठा रहा होगा ।

बेद भगवान् कितनी सचाईको प्रकट करता है । प्रकाश भी चाहिये और नई प्रेरणाभी चाहिये । तभी दृष्टिका विस्तार होता है । नयी २ बातोंका ज्ञान होता है । अनुभव बढ़ता है । पवित्र और अपवित्रका असली भेद खुलता है । अज्ञानवश हम कई वस्तुओंमें अपवित्रताकी भावना किये होते हैं । ज्यों २ अनुभवमें उन्नति होती है, अपनी भूलका पता लगता जाता है ।

इसलिये पवित्र बनो और पवित्र रहनेके लिये पुरुषार्थीभी बनो। हमारे अंग और प्राण चलतेही रहें, तभी स्वास्थ्य ठीक प्रकारसे धारण होसकता है।

(८) यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो
वयम् । पथामनुव्यावर्त्तनेऽन्यं पाप्मानुपद्यताम् ॥ ६८ ॥

अर्थव० ६ । २ ॥

अर्थः—हे (पाप्मन्) पाप, [तुम] (यः) जो (नः) हमें [अपने आप] (न) नहीं (जहासि) छोड़तेहो, (तम्) [उस] तुझको (उ) निश्चय करके (वयं) हम [ही] (जहिमः) छोड़ते हैं। (पथां) मार्गोंके (व्यावर्त्तने) अलग २ फटनेके स्थानपर (अनु) पहुंचाहुआ (पाप्मा) पाप (अन्य) दूसरे [मार्ग] (अनु) पर (पद्यताम्) चले ॥ ८ ॥

सउजनो, पाप अपने आप भला कब किसीको छोड़ता है। यह तो अभ्याससे बढ़ताही है। व्यसनी आदमी बुढ़ापेमें अपनी वासनाओंको अशक्तिके कारण पूरी नहीं कर सकता। परन्तु उसे शान्ति नहीं मिलती। विषयोंने उसे छोड़ा है, उसने उन्हें नहीं छोड़ा। आगपर जितना धी या तेल डालोगे, वह उतना अधिकही भड़केगी*। शान्ति मार्ग बदललेनेमें है। अपनी शक्तिकी परीक्षा पापके सामने साधारण साधकके लिये अच्छी नहीं। जैसे चौराहेमें पहुंचकर मनुष्यका साथ ढूट जाता है। ग्रत्येक अपने २ घरकी ओर चल देता है। ऐसेही वेद भगवान्

* “न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ मनुः २ ॥

शिक्षा देता है कि हमें स्वयं समझ आनेपर पापसे अपना मार्ग अलग कर लेना चाहिये । इसीमें हमारा कल्याण है । अपनी धारणा पक्की करके पापको स्पष्ट कह दो कि हमारा मार्ग और है, तेरा मार्ग और है ।

माया०—भगवन्, यह पाप हमारे अन्दर कहांसे आजाता है?

महा०—प्यारे, पाप बुरे संस्कारोंका फल है । बुरे संस्कार बुरी संगतिके फल हैं । पुण्यात्माओंका संग दाष दूर करता है । बुरोंका संग अच्छेकोभी बुरा बना डालता है । अतः वेद इस विषयमें बड़ा स्पष्ट उपदेश करता है ।

(९) वृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चादुतोत्तरस्मादधराद-
धायोः । इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो
वरिवः कृणोतु ॥ ६९ ॥

ऋक् ० १० । ४२ । ११ ॥

अर्थः—(वृहस्पतिः) सब विद्याओंका स्वामी (नः) हमें (पश्चात्) पीछे (उत) और (उत्तरस्मात्) ऊपर (अधरात्) नीचे (पुरस्तात्) आगे (उत) और (मध्यतः) मध्यसे (नः) हमें (अधायोः) पापी [की संगति] से (परिपातु) बचावे । (इन्द्रः) परमैश्वर्यका स्वामी (सखा) [हमारा सच्चा] मित्र (नः) हमें [अपने] (सखिभ्यः) मित्रोंके प्रति (वरिवः) कल्याण और सुखको (कृणोतु) करे ॥ ९ ॥

प्रभु हमारा सच्चा मित्र है । उससे हम सबसे अच्छी बात यही मांगते हैं कि हम बुरी संगतिसे बचे रहें । विद्याके प्रकाशसे बुरे और भलेका विवेक होगा । भलेके मेलसे ऐश्वर्य मिलेगा । प्यारो, इस कारणसे वृहस्पति और इन्द्र, इन दो

नामोंसे भगवान्का संकेत किया है। वेदके एक २ शब्दमें विशेष बल और सौन्दर्य भरा है।

(१०) द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुंधन्तु मैनसः ॥ ७० ॥

यजु० २० । २० ॥

अर्थः—(इव) जैसे (द्रुपदात्) खूंटेसे (मुमुचानः) द्वृटा हुआ [पशु स्वतंत्र होता है] (इव) जैसे (स्विन्नः) पसीना लेकर [या] (स्नातः) नहाकर [मनुष्य] (मलात्) मलसे [द्वृट जाता है] (इव) जैसे (आज्यं) धी (पवित्रेण) छाननीसे (पूतं) [छन कर] शुद्ध होता है [ऐसेही] (आपः) जल (मा) मुझे (मैनसः) पापसे (शुंधन्तु) शुद्ध करें ॥ १० ॥

सत्य०—महाराज, आपने कुच्छ दिन हुए बतायाभी था और बातभी स्पष्ट है कि जलका केवल शरीर परही प्रभाव पड़ सकता है।

महा०—बेटा, विल्कुल ठीक है। उदाहरणोंमें पसीने तथा स्नानद्वारा शुद्धिका वर्णन करके फिर जलके संकेतका अभिप्राय यह है कि इस शुद्ध तथा स्वतंत्र होनेकी भावनाको सदा बनाये रखना चाहिये। जल शान्तिका चिन्ह है। अतः पीते, नहाते, मुखादि धोते समय मानसिक शान्तिकाभी विचार करो। वह विना पापको छोड़े नहीं होसकती। अतः श्रुति देवीका भाव यह है कि साधकोंको सदा सभी शान्तिकी प्राप्तिकेलिये पापसे घृणा तथा पुण्यसे प्रेमका भाव अपने अन्दर बनाये रखना चाहिये।

तृतीय खण्ड

पश्चात्ताप और पुनरुद्धार ।

लोक०—महाराज, कल आपने जो उपदेश किया, वह था तो ठीक, पर…… … … … …

महा०—हाँ २, कहो रुक क्यों गये ?

वस्तु०—पर पाप फिर धेर लेता है, क्यों लोकेश, यही बात है ?

लोक०—जी हाँ ।

महा०—वेद भगवान् हमारे स्वभावको अच्छी तरहसे जानता है । इस लिये इस दुर्बलताका भी वहाँ संकेत करके उपाय बतलाया है ।

सत्य०—महाराज, आज यही प्रकरण सुनाइए ।

महा०—मेरा पहिले हीसे ऐसा ही विचार था । कलके कथनके पश्चात् इसी बातका स्वाभाविक प्रकरण है । धार्मिक स्वास्थ्यका यह पहिला चिह्न है कि मनुष्य जब कोई पाप करे, तो उसके लिये पछि शोकातुर हो । इस पश्चात्तापका यह आशय है कि वह अन्दरसे दुःखी होरहा है । ऐसी अवस्था कुच्छ देर रहेगी, उसके पश्चात् या तो पाप छूट जावेगा और या आत्मा इतना दुर्बल हो जावेगा कि अनुभव करनाही छोड़ देगा । पापके अभ्यास के साथ पश्चात्तापका भी अभ्याससा हो जाता है और फिर यह एक क्रीड़ासी बन जाती है । इस लिये, प्यारो, यह

बड़ी सुक्षम दृष्टिकी बात है । पूरा प्रयत्न करते हुए, सचे पश्चात्तापको अपनी शुद्धिका साधन बनाना चाहिये ।

माया०—महाराज, यह कैसे जानें कि पश्चात्ताप कब केवल दिखावा और कब असली होता है ?

महा०—वेटा, आरंभमें तो पश्चात्ताप असली ही होता है । यदि उसी समयसे इसके साथ दूसरे साधनोंपर ढढतासे आचरण आरंभ कर दिया जावे, तबतो यह हमारेलिये बड़ा उपकारी होता है । और, यदि केवल रो धो कर फिर और कुछ न करें, तो विशेष लाभ नहीं होता । हाँ, दुर्बलता बढ़ती है ।

सत्य०—क्या पश्चात्ताप किसी गुरु या मित्रके सामने करना चाहिए ?

महा०—यह भी बड़ी विकट समस्या है । कई संप्रदायोंमें यह प्रथा होती है । लोग अपने गुरुओंके आगे मनकी व्यथाका वर्णन करके समझते हैं कि शान्ति हो गयी, परन्तु उसके कई बुरे परिणाम होते हैं । मनुष्योंमें परस्पर रागद्वेष रहते ही हैं । पीछे लड़ाई झगड़ा होता और अशान्ति बढ़ती है । व्यक्तिका अपना उत्तरदायित्व भी कम हो जाता है । पाप करनेमें भय भी शनैः २ कम हो जाता है । अतः पश्चात्तापका करना निष्फलसा हो जाता है । आज भगवान् कृष्ण और अर्जुन जैसे गुरु, शिष्य या मित्रोंके जोड़ आसानीसे नहीं मिलते । इसलिये हमें यही चाहिये कि अपना रोना अपने हृदयके राजा, परमेश्वरके आगे ही रोया करें । पत्रियां काली करनी या दूसरोंके कानोंमें अपनी पीड़ाका डालना बहुत लाभकारी नहीं । अन्तर्यामी परमात्मा पहिले ही हमें लड़खड़ाते हुओंको जानते हैं । हमारा

कहना केवल अपने अन्दर अनुभव पैदा करनेकेलिये होता है कि जो मार्ग हमने पकड़ना है, वह ठीक नहीं है । उस अवस्थामें जब हम भगवान्‌की सहायताकेलिये पुकारते हैं, तो अवश्य शान्ति भी होती है और मार्ग भी मिलता है ।

लोक०—भगवन्, इस विषयके कुच्छ मन्त्र सुनावें, ताकि हम नित्य उनका ध्यान तथा मनन किया करें ।

महा०—सुनिये !

(१) यच्चिद्ग्री ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् ।
मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ ७१ ॥

ऋक्० १ । २५ । १ ॥

अर्थः—हे (वरुण) धारण करने योग्य (देव) प्रकाशस्वरूप प्रभो ! (यथा) जिस प्रकारसे (ते) तेरी (विशः) प्रजाएं [हम लोग] (यत्-चित्-हि) जो कुछ (व्रतं) नियमका (द्यविद्यवि) प्रतिदिन (प्र-मिनीमसि) भंग करते हैं । [उसे आप जानते हीं हैं । परन्तु आप हमारे सभे सहायक हो । इसलिये,] ॥२॥

(२) मा नो वधाय हत्वे जिहीडानस्य रीरधः । मा हृणानस्य मन्यवे ॥ ७२ ॥

०—२ ॥

अर्थः—[भगवन्] (नः) हमें (जिहीडानस्य) उपेक्षासे देखते हुए [अपने] (हत्वे) धायलकरनेवाले (वधाय) धातका (मा) मत (रीरधः) निशाना बना । (हृणानस्य) क्रोध करते हुए [अपने] (मन्यवे) क्रोधके [आगे] (मा) मत [डाल] ॥ २ ॥

भगवन् ! आपकी उपेक्षा हमारी मौत है । आप अपनी कृपा-वृत्ति बनाये रखें । कोई दिन नहीं जाता जब हमसे कोई

न कोई भूल न हो जाती हो । आपके प्रेमकाही बस सहारा है । आप छोड़ देंगे, तो और पूछेने वाला कौन है ? भगवन्, आपकी रखी हुई परीक्षा बड़ी कड़ी है । इसमेंसे नाम पाकर पार निकलना अति कठिन है । पग २ पर ठोकरें खाते हैं । यह आपसे छिपा हुआ थोड़ा ही है । प्रभो ! अपनी छत्रछायामें मुझे हाथ पांव मारनेका अवसर प्रदान करें । मैं अपने कियेपर लज्जित हूँ । पर मुझे अन्दरसे भरोसा है कि आपकी कृपासे ठीकहो जाऊंगा ।

(३) यच्चिद्गिते पुरुषत्रा यविष्टा चित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः । कुधीष्वस्माँ अदितेरनागान्व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने ॥ ७३ ॥

ऋक् ० ४ । १२ । ४ ॥

अर्थः—हे (यविष्ट) सबसे बढ़कर पदार्थोंके जोड़ तोड़में समर्थ (अग्ने) प्रकाशमान् प्रभो ! (यत्-चित्-हि) जो कुछ (कच्चित्) किसी तरहसे भी (ते) तेरे [नियमोंके पालनेके संबंध में] (पुरुषमा) मनुष्योंके अन्दर (अचित्तिभिः) नाना प्रकारकी अविद्याके कारण [हमने] (आगः) पाप (चक्रम) किया है । [उसके विषयमें] (अस्मान्) हमें (अदितेः) अखण्ड नियमपालनके हेतुसे (अनागान्) पापसे मुक (सु) अच्छी तरहसे (कृधि) कर । (विष्वक्) सर्व प्रकारसे (पनांसि) अपराधोंको (वि-शिश्रथः) ढीलाकर ॥ ३ ॥

जितना पाप है, उसके मूलमें किसी न किसी प्रकारकी अविद्याही है । मोह, भ्रम, अश्वान, रोग, द्वेष, लोभ आदि सब अविद्याकेही रूपान्तर हैं । यही निमित्त बनकर हमसे पाप करवाते हैं । जब भी हमारी उन्नति होगी, अदिति अर्थात् सृष्टि

की रचनाके अखण्डनीय ब्रतोंको समझकर उन्हें धारण करनेसे ही होगी । प्यारो, भगवान्से प्रार्थना करो कि वह हमें पूर्व कही हुई अविद्यासे पृथक् करके अदितिसे जोड़ देवे, ताकि हमारे सब कष्ट और सन्ताप दूर हों ।

(४) महश्रिदग्न एनसो अभीक ऊर्वादेवानामुत मर्त्यानाम् । मा ते सखायः सदमिद्रिषाम यच्छा तोकाय तनयाय शं योः ॥ ७४ ॥

०—५ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप भगवन् ! (देवानां) देवताओं (उत) और (मर्त्यानां) मनुष्योंके (अभीके) साथ [रहते हुए] (ते) तेरे (सखायः) मित्र [बने हुए हम] (सद-इत्) कभी भी (महः-चित्) किसी बड़े (ऊर्वात्) फैले हुए (पनसः) पापसे (मा) मत (रिषाम) मारे जावें । [सदाही] (तोकाय) पुत्रों [और] (तनयाय) पौत्रोंके प्रति (शं) उपद्रवोंसे शान्त और (योः) सुखों की प्राप्ति (यच्छ) प्रदानकर ॥ ४ ॥

दो प्रकारके पापका वर्णन किया है । एक वह पाप होता है, जिसके द्वारा हम देवताओंकी अवज्ञा करते हैं । दूसरा वह होता है, जिसके द्वारा मनुष्योंकी अवज्ञा करते हैं । कभी पाप इतना सूक्ष्म होता है कि देवताही पहचान सकते हैं और कभी हम इतना मर्यादाका उल्लंघनकर बैठते हैं कि साधारण जनता भी हमसे घृणा करने लग जाती है । इस विस्तृत, सूक्ष्म और स्थूल पापसे प्रभुकी कृपा और सहायता और सच्चे साधनोंका सहारा ही हमें छुड़ा सकता है । मानसिक उपद्रवोंसे छूटकर, बलके

बढ़ानेवाले गुणोंको धारण करें, ताकि हमारे पुत्र और पोते भी एक दूसरेके पीछे अच्छे, धर्मात्मा बनते हुए चले जावें ॥

(५) त्वं हि नस्तन्वः सोम गोपा गात्रे गात्रे निष-
सत्था नृचक्षाः । यत्ते प्रमिनाम व्रतानि स नो मृड सुषखा
देव वस्यः ॥ ७५ ॥

ऋक् ०८ । ४८ । ६ ॥

अर्थः—हे (सोम) [सर्व संसारको] प्रेरणा करनेवाले, भगवन् ! (त्वं) आप (हि) क्योंकि (नः) हमारे (तन्वः) शरीर [तथा सर्वस्व] के (गोपाः) रक्षा करनेवाले हैं [और] (नृचक्षाः) सब नर, नारीको देखतेहुए (गात्रे गात्रे) अंग-अंगमें (निससत्थ) मौजूद रहते हैं । [इस लिये] (यत्) जब [कभी] (ते) तेरे (व्रतानि) नियमोंका (प्र-मिनाम) भंग करें, [तो] हे (देव) प्रकाशस्वरूप (सु-सखा) अच्छे मित्र [बनकर] (वस्यः) कल्याण करनेवाले [होकर] (सः) आप (नः) हमपर (मृड) कृपा करें ॥ ५ ॥

भगवान्की आंख प्रत्येक प्राणीके कायोंको नित्य देखती रहती है । सबके अन्दर अन्तर्यामी होकर परमेश्वर मौजूद है । जीवनके सौ उतार, चढ़ाव आते हैं । कई बार हमसे बड़े बड़े अपराध होजाते हैं । हमारे अपने साथी साथ छोड़ देते हैं । सम्बन्धी सम्बन्ध तोड़ देते हैं । इष्ट, मित्र मुँह मोड़ लेते हैं । प्यारो, उस समय भी भगवान्की कृपा-दृष्टि फिर हमारा उद्धार करती है । अन्दर लज्जा पैदा होती है । पुरुषार्थी साधकोंके लिये यह एक प्रबल प्रेरणाका काम देती है । वे

सन्तापकी भट्टीसे कुन्दन होकर निकलते हैं । यही प्रभुका मित्र बनकर सहायता करना है ।

(६) यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेभिद्रोहं मनुष्या-
शरन्ति । अचिन्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मा-
देनसो देव रीरिषः ॥ ७६ ॥ अर्थव० ६ । ५१ । ३ ॥

अर्थः—हे (वरुण) वरने योग्य प्रभो ! (दैव्ये) दिव्य जीवनवाले (जने) लोगोंके प्रति (यत्) जो (किं च) कुच्छ (इदं) यह [पाप-कर्म] (अभि-द्रोहं) धोखा [आदि] (मनुष्याः) [हम और दूसरे] मनुष्य (चरन्ति) करते हैं । [और] (चेत्) यदि (अचिन्त्या) अज्ञानसे (तव) तेरे (धर्म) धर्मका (युयोपिम) हम उल्लंघन करते हैं, (तस्मात्) उस (पनसः) पापसे हे (देव) प्रकाशस्वरूप, प्रभो ! (नः) हमें (मा) मत (रीरिषः) हानि पहुंचा ॥ ६ ॥

प्यारो, जो प्रभुके प्यारे, सबके दुःख दूर करनेवाले, परोपकारी, सज्जन महात्मा हैं, उनको भी लोग धोखा देनेसे नहीं रहते । वे लोग वस्तुतः बड़े खोटे भागोंवाले हैं । वे सज्जन तो सच्चे देवता होते हैं । उनसे तो जीवन सुधारनेकेलिये प्रकाश लाभ करना ही हमारा कर्त्तव्य होना चाहिये । प्रभुकी कृपासे हम इस अनर्थसे बचे रहें । इसके साथ ही भगवान्के चलाये हुए नियमोंका ठीक-ठीक पालन करते रहें । इसीमें हमारा कल्याण है । वे नियम बड़े कड़े और अटल हैं । वे किसी भी व्यक्तिकोलिये ढीले नहीं होसकते । यह ठीक है कि हम प्रायः अज्ञानसे ही यह अपराध करते हैं । पर अज्ञान भी

तो दूर किया जासकता है । इस लिये वेद वार वार प्रभुसे प्रकाश प्राप्त करनेका इशारा करता है । हमारे सन्तापके मूलमें मोह और भ्रम ही मुख्य हेतु है । सत्संगसे यह दूर होसकता है । वेद भगवान् इसी बातको खोलकर फिर कहता है ।

(७) मा नो हासिषुर्क्षयो दैव्या ये तनूपा ये नस्त-
न्वस्तनूजाः । अमत्या मत्या अभि नः सच्चध्वमायुर्धत्त
प्रतरं जीवसे नः ॥ ७७ ॥ अर्थव० हृ । ४१ । ३ ॥

अर्थः—(ये) जो (दैव्याः) [विद्याके प्रकाशसे] प्रका-
शमान [हमारे] (तनूपाः) शरीरोंके रक्षक (नः) हमारे
(तन्वः) शरीरके (तनूजाः) [शरीरसे पैदा होनेवाले पुत्रादिके
समान] भाग हैं [येसे] (क्रष्णः) क्रष्णि (नः) हमें
(मा) मत (हासिषुः) छोड़ । हे (अमर्त्याः) मृत्यु [के
भयसे] रहित [विद्वानो] (मर्त्यान्) मरनेके स्वभाववाले
(नः) हम लोगोंके (अधि) पास (सच्चधर्म) रहो । (नः)
हमें (जीवसे) जीनेकेलिये (प्रतरं) दीर्घ (आयुः) आयु
(धत्त) धारण कराओ ॥ ७ ॥

प्यारो, आपने अच्छी तरहसे वेदके आशयको समझा ?
 क्रष्ण हमारे मध्यसे ही निकलते हैं। दो भाई एकही घरमें पैदा होते हैं। अपने अच्छे कमाँ, गुणों और वृत्तियोंसे एक क्रष्ण और देवता बनजाता है और दूसरा राक्षस होजाता है। हमारा कल्याण इस बातमें है कि हमारे आसपास क्रष्णियोंका निवास हो। हमें अपनेही भाइयोंको मृत्युके भयसे ऊपर उठकर नित्य सन्तोष और शान्तिसे युक्त होकर रहते हुए देखकर उत्साहहो कि

हमभी उनके पाद-चिह्नोंपर चलकर उन्नति करें । जीवित जाग्रत जातियां अपने महापुरुषोंके जीवनसे इसी तरह लाभ उठाती हैं । हमेंभी चाहिये कि महाराज रामचन्द्र और भगवान् कृष्णचन्द्रसे अपना घनिष्ठ संबंध जोड़ें और उनसे कुच्छ सीखें । उनकी वीरता, धीरता और पवित्रताको अपने जीवनका आधार बनावें । इन्हीं उपायोंसे यह महापुरुष मृत्युको जीतकर नित्य आनन्दका सेवन करते थे । इन्हेंही हमेंभी वर्तना चाहिये । जो होचुका, सो होचुका । अब चित्तका भार प्रभुके चरणोंमें और महापुरुषोंकी सेवामें बैठकर हल्काकर देना चाहिये और उन्नतिके मार्गपर चल पड़ना चाहिये । सज्जनो, पश्चात्तापका भाव बैठकर रोतेही रहना नहीं । इसके साथ पुनरुद्धार अर्थात् किर अन्धेरे गढ़ेसे निकलकर, प्रकाशमें विचरनाभी है । इसीका नाम जीवन है । जहां यह मौजूद है, वहां मृत्युका कोई भय नहीं सता सकता ।

(८) यद् देवा देवहेडनं देवासश्चक्षुमा वयम् । आदित्या-
स्तसाचो यूयमृतस्यतेन मुञ्चत ॥ ७८ ॥ अथर्व० ६ । ११४।१॥

अर्थ :—हे (देवाः) प्रकाशमान (देवासः) देवताओं, (यत्) जो (देव-हेडनं) देवताओंकी अवश्या (वयं) हमने (चक्षुम) की है । हे (आदित्याः) अटल नियमवालो ! (यूय) तुम (ऋतस्य) सच्चाईकी (ऋतेन) सच्चाई [परमसत्य] के द्वारा (तस्मात्) उस [पापकी पकड़] से (नः) हमें (मुञ्चत) छुड़ाओ ॥ ८ ॥

उल्टे कार्यका मनपर बुरा प्रभाव कब बन्द होगा ? जब हम उससे दुगना सीधा कार्य कर दें । परम सत्य प्रभुका नाम है ।

जब सचे विद्वान्, सच्ची विद्यासे प्रकाशमान होकर, परम सत्यके रंगमें हमें रंग देंगे, तो सारा झूठ, दंभ, धोखा और कपट दूर होजावेगा । भावनाकी दृढ़तासे इधर रुचि बढ़ती जावेगी ।

(९) ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुंचतेह नः । यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम् ॥ ७९ ॥ ०—२ ॥

अर्थः—हे (आदित्याः) अटल नियमोंके पालन करने वालो (यज्ञवाहसः) यज्ञादि पवित्र कर्मोंको पूर्ण करानेवालो (यजत्राः) पूजनीय [देवताओ], (यद्) जब (यज्ञं) यज्ञको (शिक्षन्तः) सिद्ध करनेकी इच्छा करते हुए [हम] (न, उपशेकिम) ठीक कर नहीं सके, [तो आप] (ऋतस्य) सत्यके (ऋतेन) सत्यद्वारा (इह) इस [संकटकी अवस्थामें] (नः) हमें (मुंचत) [अपराधसे] छुड़ावें ॥ ९ ॥

जीवन एक यज्ञ है । हमारे मनमें यही भाव रहना चाहिये । जहांतक होसके परोपकार करते रहें । परन्तु इस मार्गपर सत्पुरुषोंका सहाराही हमें ठीक २ चला सकता है । इच्छा होते हुएभी मानसिक दुर्बलताके कारण हम पूरे नहीं उतर सकते । कई अनुचित कर्मकर बैठते हैं । परन्तु जो कुच्छभीहो, मनमें भावना बनी रहनी चाहिये । विद्वानोंका सत्संग बड़ा उपकारीहै, उसीद्वारा मनको धो डालना चाहिये ।

(१०) यद् विद्वांसो यदविद्वांसं एनांसि चक्षुमो वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुश्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ ८० ॥

अथर्व० ६ । ११५ । १ ॥

अर्थ :—हे (विश्वेदेवाः) सकल देवताओ (सज्जोषसः) परस्पर प्रीतिसे रहनेवालो ! (विद्वांसः) जानते हुए [या] (अविद्वांसः) न जानते हुए (यद्) जब (वर्यं) हम (पनांसि) पाप (चक्रम) कर बैठें (यूयं) आप (नः) हमें (तस्मात्) उससे (मुंचत) छुड़ावें ॥ १० ॥

पाप दो प्रकारसे होता है । अश्वान तो कारण होता ही है, पर जानते हुएभी पापसे बचना कठिन होता है । वेद विद्वानोंका लक्षण यह बतलाता है कि वे मिलकर प्रेमसे रहनेवाले हों । आज यह बात दिखाई नहीं देती । इसीलिये लोगोंपर प्रभाव भी कम पड़ता है । विद्वानोंका यह कर्तव्य है कि वे लोगोंके सामने आदर्श बनकर रहें, ताकि सबको प्रकाश मिलता और जीवनका मार्ग दिखाई देता रहे ।

(११) यदि जाग्रद् यदि स्वपनेन एनस्योऽकरम् । भूतं
मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुंचताम् ॥८१॥ ०—२॥

अर्थ :—(यदि) (जाग्रत्) जागते हुए (यदि) (स्वपन) सोते हुए (एनस्यः) पापमें फंसाहुआ [मैं] (एनः) पाप (अकरं) कर बैठा हूं । (मा) मुझे (तस्मात्) उससे (भूतं) भूत (च) और (भव्यं) भविष्यत् (मुंचतां) छोड़ें (इव) जैसे [किसी पशुको] (द्रुपदात्) खूपटेसे [छोड़ा जाता है] ॥११॥

जब पापके संस्कार बहुत बढ़ जाते और पक्के हो जाते हैं, तो सोये २ भी संकल्प, विकल्प करनेवाला मन उधेड़-बुनमें लगा ही रहता है । जो मनुष्य जागताहुआ अच्छे विचार नहीं करता, वह सोयाहुआ भी कभी अपने स्वभावसे उलटा नहीं

जासकता । इस अवस्थामें पापके खूंटेके साथ हम बांधेसे जाते हैं । दायं और बड़े तब भी और बायं और बड़े तब भी वह पीछे खैंच लेता है । इस कड़ी परीक्षाके समयमें यदि अपने भूत और भविष्यत्का विचार हमारे सामने आजावे, तो हम चौंक पड़ते हैं । सज्जनो, क्या पता, कितने लाखों वर्षोंसे इसी प्रकारके चक्रमें चलते आरहे हैं । यह इसी प्रकारके कर्मोंका ही तो परिणाम है । तो क्या फिर भी ऐसे ही करते रहनेसे हमारा भविष्य ऐसा ही खुराब न होगा ? अवश्य होगा और शायद इससे अधिक ख़राब हो । पीछेके जीवनकी पड़ताल करनेसे शोक और आगेका विचार करनेसे भय पैदा हुआ आत्मा जाग पड़ता है । अपनी प्रतिष्ठाका विचार पैदा होता है । दुर्बलता दूर होकर मानसिक सरोवर प्रबल विचार-तरंगोंसे उछलने लगता है । यही शुद्धि है । यही पुनरुद्धार है ।

चतुर्थ खण्ड

जीवनका आदर्श ।

सत्य०—महाराज, आज कौनसे विषयपर वेद भगवान्का उपदेश सुनायेंगे ?

महा०—वेटा; जिस मार्गका तीन चार दिनसे वर्णन होरहा है, उसके सम्बन्धमें वौदिक आदर्शको संगतके सामने रखूंगा । समय होगया है; तुम्हारा मित्र-मण्डल आता ही होगा ।

सत्य०—आइए, वस्तुस्वरूपजी, आपकी प्रतीक्षा ही होरही थी । लोकेशजी, नमस्ते ।

अन्त०—भगवन्, नमस्ते । मैं कुच्छ दिनोंके लिये बाहिर एक आवश्यक कामपर चला गया था । आपके वचनोंको सुन सुनकर मैं अपने अन्दर बड़ा परिवर्तनसा पाता हूँ । वहां भी आपके चरणोंमें ही मेरा चित्त लगा रहा ।

उप०—और, मेरा तो, महाराज, सब उपराम उड़ गया है । क्रियात्मक जीवनमें आनन्द अनुभव करने लगा हूँ ।

महा०—महाशयो, जितना अधिक बैदिक जीवन-नीतिको समझोगे और अपनाओगे; उतना ही अधिक तुम्हारे अन्दर उल्लास, उत्साह; बल और पराक्रम पैदा होगा । और जितने अधिक यह दिव्य गुण तुम्हारे अन्दर निवास करेंगे, उतना अधिक जगत्‌में तुम्हारा प्रकाश होगा । सुनिष, वेद किस प्रकार इस सम्पत्तिको प्राप्त करने की प्रेरणा करता है ।

(१) मनसः काममाकूर्तिं वाचः सत्यमशीय । पशूनां
रूपमन्नस्य रसो यशः श्री श्रयतां मयि स्वाहा ॥ ८२ ॥
यजु० ३९ । ४ ॥

अर्थः—[मैं] (मनसः) मनकी (कामं) कामना (आकूर्तिं) उत्साह (वाचः) वाणीकी (सत्यं) सच्चाईको (अशीय) प्राप्त करूँ । (पशूनां) पशुओंका (रूपं) [सुन्दर] रूप (अन्नस्य) अन्नका (रसः) रस (यशः) यश (श्रीः) लक्ष्मी (मयि) मेरे हां (श्रयतां) निवास करे । (स्वाहा) यह मेरी भावना सत्यमय हो ॥ १ ॥

प्यारो, उत्साहके विना मानसिक कामनाएं कभी पूरी नहीं हुआ करतीं। लपोड़शंख बननेसे मनुष्य अपने आपको ही धोखेमें रखता है। वाणीमें सत्यकी प्रतिष्ठा होनेसे ही लोकमें मनुष्यकी प्रतिष्ठा होती है। आर्य-जीवन शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकारकी उच्चातिसे युक्त होना चाहिये। अतः जहां सत्य और उत्साहको धारण करनेका उपदेश होता है, वहां साथ ही, पशुओं और धन, धान्यकी भी आवश्यकता बतायी गयी है। अन्तमें 'स्वाहा'का शब्द प्रेरणा करता है कि जो कह रहे हो, उसे पूरा करनेकी चिन्ता करो। शब्दमात्रसे वायुको धके लगानेसे ही जीवन सफल नहीं हुआ करता। कार्य करो, उद्यमी बनो और लक्ष्यको प्राप्त होवो।

वस्तु०—महाराज, हमारा लक्ष्य क्या है ?

महा०—बेटा, एक शब्दमें देवता बनना हमारा लक्ष्य है। भौतिक जगतमें प्रकाश, बल, गति आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जलादिको देवता कहते हैं *। इन्हीं गुणोंको धारण करनेसे मनुष्य भी देवता-पदको प्राप्त कर सकता है। जन्मसे हम मर्त्य हैं, कर्मसे हम अमर देवता बन सकते हैं। वेदका आशय स्पष्ट है। सुनो,

(२) द्वे सुती अशृणवं पितृणामहं देवतानामुतं
मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समैति यदन्तरा पितरं
मातरं च ॥ ८३ ॥

यजु० १९ । ४७ ।

* देखो, वेद-सन्देश, १म भाग, पृष्ठ, १४८, २३४—२३७। देवयज्ञ-प्रदीपिका, पृष्ठ १३७—१३९।

अर्थः—(अहं) मैंने (पितृणां) ज्ञानी वृद्धोंसे (देवानां) देवताओं (उत) और (मर्त्यानां) मर्त्योंके (द्वे) दो [अलग अलग] (सृती) मार्गों [का वर्णन] (अशृणवं) सुना है । (इदं) यह (विश्वं) सारा (एजत्) चलता फिरता [संसार] (यत्) जो (पितरं) पिता [=द्युलोक] (च) और (मातरं) माता [=पृथिवी] के (अन्तरा) बीचमें [है], (ताभ्यां) उन [मार्गों] से (सम्-पति) होकर जाता है ॥ २ ॥

कालका चक्र बड़े प्रबल वेगसे चल रहा है । वह एक क्षण भर भी किसीकेलिये ठहर नहीं सकता । जिसे जो कुच्छ करना है, स्वयं समयको ठीक ठीक समझकर करते जाना चाहिये । दो ही मार्ग हैं और दोनों प्रत्येक साधकके सामने खुले पड़े हैं । यह उसकी बुद्धि, शिक्षा, धारणा और शक्तिकी परीक्षाका एक चिह्न होगा कि वह अमृतके द्वारको खोलता है, या कि जन्म, मरणके चक्रमें ही पड़ा बिल-बिलाता है ।

(३) मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ ८४ ॥ यजु० १३ । २७ ॥

अर्थः—(क्रतायते) क्रतको धारण करनेवालेकेलिये (वाताः) पवन [और] (सिन्धवः) नदियां (मधु) मीठे बनकर (क्षरन्ति) बहते हैं । (नः) हमारेलिये (ओषधीः) ओषधियां (माध्वीः) मिठाससे युक्त (सन्तु) हॉ ॥ ३ ॥

परमात्माके अटल, सचे नियमोंका नाम ऋत है। जो मनुष्य प्रभुकी सुन्दर रचनाके इस रहस्यको समझकर सत्य-

चरणसे युक्त होजाता है, उसकेलिये संसार कहवा नहीं रहता । जहाँ जाता है, उसे मीठा ही मीठा प्रतीत होता है । जल क्या और वायु क्या, सूर्य क्या और चन्द्र क्या, सर्वत्र उसकेलिये मिठासका सामान तथ्यार है । प्यारो, वेद हमें उपदेश करता है कि हमारा जीवन भी इसी प्रकारकी दिव्य सम्पत्तिसे युक्त हो, ताकि हम वृथा जगत्को दोषी न ठहराते हुए, चारों ओर आनन्दको ही अनुभव कर सकें । यही दिव्य जीवनको धारण करने तथा प्रभु-प्रसादको पानेका मार्ग है ।

(४) आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षु-
यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पताम् ।
यज्ञो यज्ञेन कल्पतां प्रजापतेः प्रजा अभूम स्वर्देवा अग-
न्मामृता अभूम ॥ ८५ ॥ यजु० ९ । २१ ॥

अर्थ :—(आयुः) जीवन (यज्ञेन) यज्ञकेद्वारा (कल्पतां) सामर्थ्यसे युक्त हो । (प्राणः) प्राण (चक्षुः) आंख (श्रोत्रं) कान (पृष्ठं) पीठ [और] (यज्ञः) यज्ञ (यज्ञेन) यज्ञकेद्वारा (कल्पतां) सामर्थ्यवान् हों । [हम] (प्रजापतेः) परमात्माकी (प्रजाः) प्रजापं (अभूम) बनें, (देवाः) हे देवताओ, (स्वः) उत्तम गतिको (अग्नम) प्राप्त हों, (अमृताः) अमर (अभूम) होजावें ॥ ४ ॥

माया०—महाराज, नमस्ते ।

महा०—नमस्ते । आज कहाँ रह गये थे ?

माया०—महाराज, क्या बताऊं ? मेरे पक मित्र अच्छे

सम्पत्तिशाली हैं । पर उनका सारा रूपया पैसा इधर उधर नष्ट होरहा है । मैंने चाहा कि उन्हें आपके चरणोंमें बैठकर वेदामृतके पान करनेका सौभाग्य प्राप्त हो ।

वस्तु०—क्या वही मणिराम सेठ ?

माया०—हां । उन्हींके पाससे निरादत होकर आरहा हूँ ।

सत्य०—निरादर ! यह कैसे ?

महा०—बेटा, इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है ? सेठ अपने धनके मदमें बेचारे मायारामको मूर्ख, भिखर्मंगा समझता होगा । उसे इस अवस्थामें उपदेश करना ठीक न था ।

माया०—जी हां । वह तो अपने समान किसीको बुद्धि-मान् समझता ही नहीं । हा ! धनाढ़ीयोंकी भी विचित्र ही दशा है ।

महा०—मायारामजी, आपने अपना कर्तव्य समझकर इस कार्यको किया । आपने उसकी भलाईकेलिये सब कुच्छ किया । इतना ही विचार हमारे सामने रहना चाहिये । फलकी विशेष इच्छा मत करो । बस, फिर कभी असन्तोष न होगा । अभी आपके आनेसे पहिले मैं वेद भगवान्से यज्ञमय जीवनके विषयमें सन्देश सुना रहा था । कर्तव्य-बुद्धिसे युक्तहोकर कर्म करते चले जाना ही इस जीवनका सच्चा बल है । इसीसे शरीर पुष्ट, और अन्तःकरण सन्तुष्ट होता है । यज्ञका अभ्यास ही हमार यज्ञको पूर्ण बनाता है । इस पूर्णताका अभिप्राय यह है कि स्वार्थ और परार्थमें भेदका लेश भी न रहे । व्यक्ति समष्टिमें पूर्णतया लीन होजावे । आत्महित विश्वहितमें कोई अन्तर न

रहे । हम प्रभुकी प्रजा हैं । हमें किसी धनाढ्यका द्वार खट्ट-खटानेकी आवश्यकता नहीं । वह सबका स्वामी है । हम सब उसके पुत्र और पुत्रियां हैं । इसलिये हमारा परस्पर प्रेम होना चाहिये । ईर्ष्या और द्वेष किसके साथ करें ? कोई पराया तो है नहीं । इसी अवश्याको प्राप्त होना उत्तम गति है । यही सत्त्वा सुख है । इसको पाकर फिर मृत्युका भय नहीं रहता । भय दूसरेसे होता है । जब संसारके एक एक प्राणीसे मेरे चित्तकी तार मिलकर भगवद्गतिको आलाप रही हो, तो भय किससे और शोक कैसा । प्यारो, वहां पहुँचकर आनन्द ही आनन्द है । यही हमारे जीवनका आदर्श है । इसे कभी दृष्टिसे दूर न होने दो ।

(५) मा भेर्मा संविकथा अतमेर्यज्ञोऽतमेर्यज्ञमानस्य
प्रजा भूयात् त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा ॥८६॥

यजु० १ । २३ ॥

अर्थः—(मा) मत (भेर्मः) भय कर, (मा) मत (सं-
विकथाः) घबरा । (यज्ञः) यज्ञ (अतमेरुः) ग्लानिका न करने
वाला [हो] । (यजमानस्य) यजमानकी (प्रजा) (अतमेरुः)
ग्लानिरहित (भूयात्) हो, (त्वा) तुज्ञ [यज्ञ] को (त्रिताय)
शारीरिक, मानसिक और आत्मिक भाव, (द्विताय) वैयक्तिक
और सामुदायिक [तथा] (एकताय) परमानन्दकी प्राप्तिके-
लिये [धारण करता हूँ] ॥५॥

सज्जनो, इस मन्त्रमें यज्ञका पूरा आशय प्रकट होरहा
है । भय और घबराहटका मूल-नाश करके, घृणा, ग्लानि,

आलस्य और प्रमादका त्याग करके जीवनके यज्ञमें पग धरो । तुम्हारी प्रजा तुम्हारा अनुकरण करतीहुई वैसी ही बनेगी । प्रत्येक मनुष्यका जीवन शरीर, मन तथा आत्माकी दृष्टिसे तीन प्रकारका, व्यक्ति, और समाजकी दृष्टिसे दो प्रकारका और परमलक्ष्य, परमात्माके साथ एकता स्थापित करनेकी दृष्टिसे एक प्रकारका समझा जासकता है, जीवनके इन भिन्न भिन्न विभागोंमें यही पूर्व कहीगयी यज्ञमय-नीति ही पूर्णताको प्रदान करती है । इस लिये सत्य-धर्मका आश्रय लेकर इस पवित्र सजपथपर चल पड़ना चाहिये ।

सत्य०—महाराज, आज तो यजुर्वेदहीसे आप सुना रहे हैं ।

महा०—बेटा, वेदका अथाह सागर है । जहां डुबकी लगा ली, वहांसे बहुमूल्य रत्नोंकी प्राप्ति होजाती है । वेद गुड़ या मिस्त्रीके पिण्डके समान है । जहांसे चक्खो, मिठास ही मिठास है ।

उप०—क्या हमें भी कभी ऐसी शक्ति प्राप्त होगी ?

महा०—प्यारे भाई, उपराम छोड़दे । उत्साहको धारण करले । स्वाध्यायका अभ्यास कर । मनको वेदकी सेवामें लगादे । फिरजो कुच्छ द चाहेगा, वह चिन्तामणि तुम्हे देती चली जावेगी ।

वस्तु०—भगवन्, वेद भगवान्का पूर्ण अनुवाद भी मिलता है ?

माया०—अजी, कहां ? मैंने सारा टटोल मारा । काशी तक हो आया ।

महा०—सत्य है। यही अवस्था है। सहस्रों वर्षोंके अन्धकारके पीछे महाराज दयानन्दस्वामीने आजसे साठ वर्ष पूर्व-सूर्यका प्रकाश लोगोंको दिखाया। अभी एक मास तक हरद्वारके तीर्थ पर कुम्भ-स्नानके लिये लाखों नर, नारी इकड़े होंगे। बारह २ वर्षकी पीछे यह पर्व लगता है। १६२४के कुम्भपर पाखण्डखण्डनी पताका खड़ी करके महाराजने सर्व प्रकारके अन्धकार, अन्याय और अत्याचारके विरुद्ध हल्ला बोल दिया था। तबसे फिर वेद भगवानका नाम कानोंमें पड़ने लगा है। उन्होंने वेदका भाष्यभी रचा। पर पूरा न कर सके। उनके पीछे आर्य समाजके विद्वानोंने कुच्छ थोड़ा बहुत यत्न किया है। परन्तु यह कार्य अभी न हुएके समान है।

अन्त०—महाराज, आर्य समाज बड़ा शक्तिशाली समुदाय है। यह काम अभी तक अधूराही क्यों छोड़ रखा है।

महा०—पुरानी विद्याको पुनर्जीवित करनेकेलिये तपस्वी, त्यागी, अप्रमादी, योग्य जीवनोंकी आवश्यकता है। ऐसे लोग अभी इधर नहीं लगे। साधारण प्रजा वेदका नाम ले २ कर काम चलाती है। पढ़े लिखे ऊपर २ तैरते हैं। जब योग्य युवकोंके मनमें उल्लास होगा, धनियोंका धन-प्रवाह इधर बहेगा, तब यह कार्य होगा। पर होगा अवश्य, क्योंकि महात्यागी, धर्मधुरंधर, प्रभुवर दयानन्दका धक्का लगा हुआ निष्फल कभी न जाएगा। जितना इस ओर पुरुषार्थ करोगे, उतना ही अधिक सुख पाओगे, सुनो, अब ऋग्वेदसे इसी प्रकरणमें कुच्छ सुनाता हूँ।

(६) सम्यक् सम्यज्ञो महिषा अहेषत सिन्धोरुर्मावधि

वेना अवीविपन् । मधोर्धाराभिर्जनयन्तो अर्कमित्र प्रिया-
मिन्द्रस्य तन्वमवीवृधन् ॥ ८७ ॥ ऋक्ष० ६ । ७३ । २॥

अर्थः—(महिषा:) महापुरुष (सम्यक्) अच्छेद प्रकार
(सम्यञ्चः) मिले हुए (अहेषत) उज्ज्ञति करते हैं; (वेना:)
विद्वान् लोग (सिन्धोः) समुद्रकी (ऊर्मी-अधि) लहरके
ऊपर (अवीविपन्) बीज बो चुके हैं । (मधोः) मधुकी
(धाराभिः) धाराओंसे (अर्क) स्तुतिको (जनयन्तः) प्रकट
करते हुए (इत) निश्चय करके [वे] (इन्द्रस्य) इन्द्रके (प्रियां)
प्यारे (तन्वं) विस्तुत स्वरूपको (अवीवृधन्) फैला चुके हैं ॥६॥

विद्या बड़ी अच्छी है । यदि इसके साथ परस्पर मिल
कर काम करने वाला मधुर स्वभावभी प्राप्त हो जावे, तो समुद्रकी
थप २ करती हुई लहरोंके ऊपर भी यश और कीर्तिकी खेतीकी
जा सकती है । संसार भी तो महासागर है । इसमें सदाही
ज्वारभाटे आते रहते हैं । कितनी गड़ बड़ और अशान्ति रहती
है । परन्तु सज्जे महापुरुष इन दोनों गुणोंसे युक्त होकर,
अशान्तिमें शान्त और चंचलतामें निश्चल रहते और मानव
इतिहासके पत्रोंपर अपना नाम अमेट कर जाते हैं ।

(७) पवित्रवन्तः परिवाचमासते पितैषां प्रलो अभि-
रक्षति व्रतम् । महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे धीरा इच्छेकु-
र्धरुणेष्वारभम् ॥८८॥ ०—३ ॥

अर्थः—[उक्त महापुरुष] (पवित्रवन्तः) पवित्रतासे
युक्त होकर (वाचं) वाणीको (परि-आसते) धारण करते हैं,

(पषां) इनके (व्रतं) व्रतकी (प्रत्यः) अनादि (पिता) भगवान् [स्वयं] (अभि-रक्षति) अच्छ्री तरहसे रक्षा करता है । (वस्तुः) सर्वव्यापक प्रभु (महः) महान् (समुद्र) सागरको (तिरः-दधे) समेटकर धारण करता है, (धीराः) धीरपुरुष (इत) ही (धरणेषु) धारण करने वालोंके मध्यमें (आरम्भं) आरंभ करनेकी (शेकुः) शक्ति रखते हैं ॥ ७ ॥

वे जो कुच्छ कहते हैं, शुद्ध भावसे और पूरा करनेके लिये कहते हैं । वाहे कितनाही कठिन कार्य हो, वे नहीं ध्वराते । स्वयं भगवान् उनकी लाज रखता है । वस्तुतः वह आपही सबको धारण कर रहा है । उसके शासनमें सुर्यादि सब व्रतका पालन करते हुएही देवता वने हुए हैं, इसलिये धीर पुरुष पक्षे व्रती बनकरही स्थायी कार्योंको हाथ लगा सकते हैं । आरंभ कियेहुए कार्यको पूरा करनेसेही असली बड़ाईका प्रकाश होता है ॥ ७ ॥

(८) प्रत्यान्मानादध्या ये समस्वरञ्जुक्यन्त्रासोरभ-
सस्य मन्तवः । अपानक्षासो वधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां
न तरन्ति दुष्कृतः ॥ ८९ ॥

अर्थः—(ये) जो (शुक्लोक-यन्त्रासः) कीर्ति-नियमी (रभसस्य) वेगका (मन्तवः) मनन करनेवाले (प्रत्यात्) पुराने (मानात्) मापसे (अधि-आ-सम्-अस्वरन्) अधिक आगे बढ़ जाते हैं [वेही महापुरुष होते हैं] । (अनक्षासः) अन्धे [और] (वधिराः) बहरे (अप) दूर (अहासत) छोड़कर चलेजाते हैं, (दुः-कृतः) दुष्कर्मी जनः (ऋतस्य) धर्मके (पन्थां) मार्गको (न) नहीं (तरन्ति) तर सकते ॥ ८९ ॥

महापुरुषोंका जीवन संकुचित रेखाओंके अन्दर बन्द रहता हुआ, उन्नतिशील तथा विस्तारात्मक होता है । कीर्ति और धर्मही उनका धन होता है । उनकी मानसिक शक्ति बड़े वेगसे काम करती हुई, नये २ मार्गोंका उद्घाटन करती है । उनको प्रत्येक घटनामें रहस्य-मेदी दर्शन प्राप्त होता है । प्रत्येक शब्दमें विचित्र सन्देश भरा है । उनके आगे साधारण जनता तो अन्धी और बहरीही प्रतीत होती है । नेकी और भलाईका मार्ग कठिन है । धर्मका फल प्रायः गुप्त होता है । साधारण, पामर लोग शीघ्र घबरा उठते और कार्यकों अपूर्णही क्रोड़कर भाग जाते हैं । परन्तु वेदके शब्दोंमें यह निश्चित जानो कि वे सदा अपूर्ण-कामही रहते हैं, पूर्व कहे प्रकारसे जो सुकर्मी होते हैं, उन्हींकी जीवन-नौका किनारे लगती है ।

(९) ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्री ष पवित्रा
हृद्यन्तरादधे । विद्वान् स विश्वा भुवनाभिपश्यत्यवाजुष्टान् ॥
विद्यति कर्ते अव्रतान् ॥ १० ॥

०—८ ॥

अर्थः—(ऋतस्य) सच्चाईका (गोपाः) रखवाला (सुक्रतुः) श्रेष्ठ कर्मीका स्वामी [जगदीश्वर] (न दभाय) धोखेमें नहीं आता, (सः) वह (त्री) तीन (पवित्रा) पवित्रताओंको (हृदि-अन्तः) हृदयके अन्दर (आ-दधे) धारणा करता है । (सः) वह (विश्वा) सारे (भुवना) लोकोंको (अभि-पश्यति) अच्छी तरह देखता है, (कर्ते) कर्ममें (अव्रतान्) व्रतहीन [अत एव] (अजुष्टान्] प्रीतिके अपात्रोंको (अव विद्यति) जड़से उखाड़ फैकता है ॥ ६ ॥

प्यारो, सारी नेकीका आधार परम पिता, परमात्मा है । वह प्रत्येक प्राणीके हृदयमें विराजमान होता हुआ शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शुद्धिकी प्रेरणा करता है । धर्मात्मा, सज्जन उस प्रेरणाका मान करते और उससे उन्नत होते हैं । कुपुरुष उस हृदयकी ध्वनिको दबाकर मस्त रहना चाहते हैं । परन्तु वे मूर्ख हैं । भगवान्की आंख प्रत्येक घटनाको भलीभान्ति देख रही है । जो आधर्मिके ऊपर अपना जीवन-मन्दिर बनाते हैं, उन्हें पीछे पक्षताना पड़ता है । प्यारो, सच्चे आस्तिक बनो । प्रभुकी मित्रता और प्रीतिकेलिये अपने आपको पात्र बनाओ । सदा सत्य, धर्मसे प्यार करो । सुकर्मी बननेका पूरा यत्न करो । पुरुषार्थसे कल्याण होगा । आंख बचाकर पार नहीं हो सकते ।

(१०) ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आजिह्नाया अग्रे
वरुणस्य मायया । धीराश्चित्तत् समिनक्षन्त आशतात्रा
कर्तमवपदात्यप्रभुः ॥ ९१ ॥

०—६ ॥

अर्थः—(ऋतस्य) धर्मका (तन्तुः) सूत्र (पवित्रे)
पवित्रतामें (वि-ततः) विस्तारको प्राप्त होता, [और] (वरु-
णस्य) भगवान्की (मायया) मायासे (जिह्नायाः) जिह्नाकी
(अग्रे) नोकपर (आ-ततः) स्थापित होता है ; (धीराः)
धीर पुरुष (चित) ही (तत) वहांतक (सम-इनक्षन्तः)
पहुंचतेहुए (आशत) प्राप्त करते हैं, (कर्तं) कर्ममें (अप्रभुः)
असमर्थ (अत्र) यहीं (अव-पदाति) अधोगतिको पाता है ॥

सज्जनो, परमात्माकी महती दयासे साधक पुरुषार्थ

करताहुआ, अन्दरकी प्रेरणाको समझता है । शुद्ध, पवित्र आदमीकी जिहा सदा धर्मानुसार बचनोंको बोलतीहुई, जगतमें कल्याणका विस्तार करती है । परन्तु जो पुरुषार्थसे घबराते हैं, और काम करनेसे डरते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि वे अपनी उन्नतिको स्वयं रोक रहे हैं । वे व्यर्थ अपने भास्यको कोसते हैं । पवित्रोंका पवित्र, शुद्धोंका शुद्ध और बड़ोंका बड़ा, भगवान् सबके हृदयका स्वामी बनकर संसार-चक चला रहा है । जो इस बातको समझकर, उसके बांधेहुए, ऋषियोंद्वारा माने हुए नियमोंका पालन करते हैं, वे पवित्र होकर उल्लङ्घ गतिको प्राप्त होते हैं । उनके यज्ञमय जीवनकी सुगन्धि चारों दिशाओंको पवित्र करती है । उनकी उपमा निराशोंको नयी आशा बंधाती और मुद्रोंको फिरसे खड़ा कर देती है । प्यारो, कर्ममें अप्रभु मत बनो । सत्त्वहीन, उत्साहहीन, कर्महीन प्रजा कभी उठ नहीं सकती । उत्साही, पराक्रमी, कर्मवीर लोक कभी दब नहीं सकते । दबा रहना मृत्यु है । अपनो टांगोंपर खड़ा होना जीवन है । चेतन होकर परतन्त्र होना चेतनताका अपमान करना है ।

संत्य०—सत्य है, महाराज पर यह जानतेहुएभी हम अनेक बार स्वतन्त्र नहीं होसकते । हम न चाहतेहुएभी उलटे मार्गपर चलेजांते हैं ।

महां०—नहीं, बेटा, पेसा नहीं है । इसमें विवेक करनेकी आवश्यकता है । उलटे मार्गपर चलनेका चिरकालसे स्वभावसा बनरहा है । अभी नियमपूर्वक एक २ पंग देख २ कर रखना होगा । जबतक ठीक मार्गपर चलनेका भी पूरा २ अभ्यास न हो

लेगा, तबतक थोड़ेसे प्रमादसे फिर उलटे चलने लगोगे केवल ज्ञानसे काम नहीं चलता । साधन-सम्पत्तिकीभी आवश्यकता है। जैसे टिकटके विना गाढ़ीपर चढ़ना कठिन है, वैसेही मानसिक विकास और धर्म-मार्गका ज्ञान होतेहुएभी, साधनरूपी टिकटके विना यह यात्रा नहीं होसकती ।

वस्तु०—वस्तुतः यही बात है ।

उप०—भगवन्, अब उन साधनोंका उपदेश कीजिएगा ।

महा०—हाँ, कलसे ऐसाही करूँगा। अब जाइए। आजके संदेशका शान्तिसे मनन करें। सबकी ओर मुस्करातेहुए देखकर नमस्ते, नमस्ते ।



अथ साधनसंविधानो नाम
तुरीय उच्छ्वासः ।

1970-1971

प्रथम खण्ड

सत्संग और सज्जनता ।

महा०—अच्छी बात, उपरामजी, अब जिन साधनोंका वेद भगवान् उपदेश करता है, उन्हें ध्यानसे सुनें और अपने जीवनका भाग बनावें ।

उप०—अबश्य, महाराज !

महा०—प्यारो, मानव समाजमें दो प्रकारके लोग होते हैं। एक पूर्वोक्त मार्गपर चलनेवाले, धर्मात्मा सज्जन और दूसरे इसके विपरीत, राज्ञसी वृत्तियोंवाले लोग । यह एक सर्व-साधारण कहावत है कि खरबूजेको देखकर खरबूजा रेग पकड़ता है। जिस प्रकारकी संगतिमें मनुष्यको रख दिया जावे, वह शनैः २ बैसेही संस्कार ग्रहण करलेता है ।

वस्तु०—भगवन्, क्या बुरे मनुष्योंके मध्यमें रहता हुआ मनुष्य अपने शुभ संस्कारोंके बलसे ठीक नहीं रह सकता ?

महा०—बेटा, रहसकता है ? पर कोई २ विरला और वहभी कोई बड़ाही साधन-सम्पन्न, बलवान्, तपस्वी, सिद्ध महात्मा । प्रत्येक साधनकेलिये यही अच्छा है कि वह इस कड़ी परीक्षामें न बैठे । इसलिये वेद-माता अपने प्यारे पुत्रोंको जहाँ यह समझाती है कि वे बुराईके ऊपर विजय प्राप्त करनेवाली, शक्तिको धारण करें, वहाँ मुख्यरूपसे सत्संगकी महिमा बतलाती है । सुनिष—

(१) ये मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः । ब्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥९२॥

(२) ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत । स्तेनं वद्धमिवादिते ॥ ९३ ॥

ऋ० ८ । ६७ । १३-१४ ।

अर्थः—(ये) जो (क्षितीनां) जनताके (मूर्धानः) मस्तक [के समान], (अदब्धासः) धोखेमें न आनेवाले, (स्वयशसः) स्वाधीन यशके स्वामी, (अद्रुहः) द्रोह-रहित [सज्जन] (ब्रताः) ब्रतोंकी (रक्षन्ते) रक्षा करनेवाले हैं ॥ (ते) ऐसे [आप] (आदित्यासः) हे अखराड नियमोंको धारण करनेवाले [महापुरुषो], (नः) हमें (वृकाणां) भेड़ियोंके (आसनः) मुंहसे (मुमोचत) चचाओ । [अदिते] हे अखराडनीय शक्ति-देवि, [हमें ऐसे छुड़ाओ] (इव) जैसे (बद्धं) बांधेहुए (स्तेनं) चोरको छोड़ दिया जाता है ॥ १-२ ।

जातीय नेताओंका स्वरूप और महात्माओंका लक्षण क्या उत्तम प्रकारसे वर्णन किया गया है । जैसे शरीरमें मस्तक उत्तम अंग है, वैसे वे सामाजिक शरीरके उत्तमांग हों । मस्तकका कार्य क्या है ? सोच और विचार । समाज महापुरुषोंद्वारा बतायेहुए मार्गपर चलकर ही उच्चति कर सकता है । परन्तु किन नेताओंकी नीति दोष-रहित होती है ? जो न धोखा देवें और न उसमें आवें । जो आत्म-विश्वासके आधारपर यश और कीर्तिके धनी बन चुके हों । जो द्रोह करनेवाले, संकटके समय अपनी प्रजाको पराये हाथों बेच डालनेवाले न

हों । जो सचमुच आदित्य हों । जिनक व्रतका काल रात्रि लालों न सके । ऐसे सज्जनों, शूरवीरोंके होतेहुए किसी बातका भय नहीं । जैसे न्यायाधीश न्याय करताहुआ, चोर कहकर बांधेहुए मनुष्यको मुक्त कर देता है, ऐसे ही सत्पुरुषोंके संगसे सामाजिक भेड़ियोंके मुंहमें गयाहुआ पुरुष भी छूट जाता है । प्रत्येक साधकको चाहिये कि सबसे पहिले इस दिव्य सहायताको धारण करे । सज्जनोंके समीप रहकर, सज्जन बनना सीखे । उनकी अखण्ड शक्ति उसके अन्दर शनैः शनैः प्रवेश करेगी और, जब भी कोई शारीरिक, मानसिक या सामाजिक भेड़िया उसे दबोचना चाहेगा, तो यह उसकी सदा रक्षा करेगी ।

(३) मानः समस्य दूळ्यः परिद्वेषसो अंहतिः । ऊर्मिन नावमावधीत् ॥ ९४ ॥

ऋूक्० ८ । ७५ । ६ ॥

अर्थः—[हे भगवन्] (समस्य) सर्व प्रकारके (दूळ्यः) बुरे विचारोंवाले, [और] (परिद्वेषसः) सर्वत्र द्वेष करनेवाले [पापी-जन] की (अंहतिः) हनन करनेवाली [कुवासना और कुचेष्टा] (नः) हमें (मा) मत (आ-वधीत्) नष्ट करे (इव) जैसे (ऊर्मिः) लहर (नावं) नौकाको [नष्ट कर डालती है] ॥ ३ ॥

सज्जनो, हमेंसे प्रत्येकने भव-सागरमें अपनी अपनी अपनी नौकाको डाल रखा है । देखना, इसे बचाके ले चलना । भयानक लहरोंके थपेड़ोंसे इसे परे ही रखना । भंवरमें न पड़ना । बुरे विचारों और बुरी वासनाओंकी आंधीके उठनेसे पूर्व ही किनारेपर पहुंचनेका यज्ञ करते रहना । प्यारो, इसका यही

उपाय है कि बुरे मनुष्योंके संगको छोड़ दो । बुरा कौन है ? जो बुरे विचारोंमें ग्रसा रहता है और द्वेषपरायण होकर जिसे मिलता है, उसे भी वही विषेला छंक चुभा देता है ।

(४) ये चृक्षणासो अधि क्षमि निमितासो यतस्तुचः ।
ते नो व्यन्तु वार्यं देवत्रा क्षेत्रसाधसः ॥ ९५ ॥

ऋक्ष० ३ । ८ । ७ ॥

अर्थः—(ये) जो (चृक्षणासः) [गुरुओंद्वारा] तराये हुए (क्षमि) पृथिवी (अधि) पर (निमितासः) मर्यादापर चलनेवाले (यतस्तुचः *) ढीक रीतिसे दान करनेवाले (देवत्रा) देवताओंके मध्यमें (क्षेत्रसाधसः) खेतोंको साधनेवाले [हों] । (ते) वे (नः) हमें (वार्यं) वरनेयोग्य पदार्थोंको (व्यन्तु) प्राप्त करावें ॥ ४ ॥

सद्गुरुसे शिक्षा पाकर ही मनुष्य बड़ा बनता है । जितनी अविद्या और सूखता होती है, उसे वह काट देता है । महापुरुष मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते । दानादिके विषयमें अपने नियमके पक्के होते हैं । अपनी विद्याके बलसे देशको हरी भरी खेतियोंसे सुशोभित करते हैं । उन्हींके संगसे धारण करनेयोग्य गुणोंकी प्राप्ति होती है ।

(५) हंसा इव श्रेणिशो यतानाः शुक्रं वसानाः स्वरवो न आगुः । उच्चीयमानाः कविभिः पुरस्तादेवा देवानामपि यन्ति पाथः ॥ ९६ ॥

* सुक्ष्म यज्ञाभिमें धृत डालनेके विशेष पात्रको कहते हैं । अयोत् जिसका होम, यज्ञ, दान आदि नियमपूर्वक चलता है ।

अर्थः—(हंसाः) हंसोंकी (इव) तरह (श्रेणिशः) पंक्ति बांधकर (यतानाः) पुरुषार्थ करनेवाले, (शुक्रं) प्रकाशको (वसानाः) धारण करनेवाले, (स्वरत्वः) [सर्वहितकारी] उपदेश करनेवाले (कविभिः) विद्वानोंद्वारा (पुरस्तात्) आगे (उन्नीयमानाः) उन्नति करायेहुए (देवाः) विद्वान् (देवानां) विद्वानोंके (पाथः) मार्गको (अपि-यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥४॥

विद्वान् विद्वानोंके मार्गका अवलंबन करते हैं । वे परस्पर मिलकर प्रकाशका विस्तार करते हैं । जिस तरह हंस मिलकर आकाशमें उड़ते हैं, या मानसरोवरमें विचरते हैं, वैसे सच्चे विद्वान् संगठित होकर लोकोपकारमें लगे रहते हैं । उन्हींका सदा सत्संग करना चाहिये, ताकि सबके अन्दर इन भावोंकी उन्नति हो । परस्पर सहयोगसे ही प्राकृतिक जगत्‌में सारा कार्य चलता है । सामाजिक सफलताका भी यही आधार है ।

(६) न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्दन्न वोचाम मा सुनोतेति
सोमम् । यो मे पृणाथो ददद्यो निवोधाद्यो मा सुन्वन्तमुप
गोभिरायत् ॥९७॥

ऋक् ०२ । ३० । ७ ॥

अर्थः—(यः) जो (मे) मेरे प्रति (पृणात्) तृप्तिको धारण करनेवाला, (ददत्) दान देनेवाला (नि-वोधात्) [मेरे भावोंको] समझनेवाला [और] (यः) जो (सुन्वन्तं) यह करतेहुए (मा) मेरे पास (गोभिः) गौओंके साथ (उप-आयत) आनेवाला है, [वह] (मा) मुझे (न) मत (तमत्) तंग करे, (श्रमत्) थकावे (उत) या (तन्द्रत्) आलसी बनावे [और हमभी] (न) मत (वोचाम्) कहें (इति) कि (सोमं) सोमको (मा) मत (सुनोत) खींचो ॥ ६ ॥

प्यारे सज्जनो, ज्ञानसे उपदेष्टा और श्रोता, गुरु और शिष्य तथा नेता और प्रजाके परस्पर व्यवहार तथा प्रत्युपकारके भावको समझलो। उपदेशको चाहिये कि लोगोंके सेवा-भावसे तृप्त होकर, ज्ञानका दानकर उन्हेंभी तृप्त करे। उनके भावोंको समझकर, धार्मिक कार्योंमें उनकी सहायता करे। गौ से तात्पर्य धन, धान्यकी पूर्णता और इन्द्रियोंकी शक्ति है। सच्चा उपदेशक वही है, जो इस अपने कर्तव्यको भलीभान्ति पूर्ण करता हुआ, कभी प्रमाद-वश उलटे मार्गपर न स्वयं पड़ता है और न लोगोंको डालता है। इसलिये जनतामें तंगी, शिथिलता या आलस्य पैदा नहीं होते और प्रजा सदा सोम-याग अर्थात् धर्मके कार्योंमें लगी रहती है। उनमें कभी वाधक नहीं होती। एक प्रकारसे समझदार जनता विद्वानोंकी सहायता करती है और वे उसका कल्याण करतेहुए, सामाजिक स्वास्थ्यके निमित्त बनते हैं।

(७) कामेन मा काम आगन् हृदयाद्वदयं परि । यद-
मीषामदो मनस्तदैतूप मामिह ॥ ९८ ॥ ^{अर्थव० ११५२४}

अर्थ:—(कामेन) कामके साथ (मा) मुझे (कामः) काम (आगन्) प्राप्त हुआ है, (हृदयात्) हृदयसे (हृदयं) हृदय (परि) मिला है। (यत्) जो (अमीषां) उन लोगोंका (अदः) वह (मनः) मन [है] (तत्) वह (मां) मेरे (इह) यहां (उप) पास (आ-एतु) आवे ॥ ७ ॥

महाशयो, सामाजिक सज्जनताका मूल प्रेम है। प्रेम एक ओरसे नहीं, वरन् पारस्परिक होकरही पक्का होता है। काम

अर्थात् इच्छा प्रत्येक हृदयमें उठती है । परन्तु जब लोगोंकी यह इच्छाएं एक दूसरेके अनुकूल होजाती हैं, तभी कल्याण होता है । यह बात हृदयोंके मिल जानेसे और सहानुभूतिके पैदा होनेसे होती है । इसका उपाय यह है कि प्रत्येक साधक मन्त्रके उत्तरार्थमें बतायीहुई विधिके अनुसार सदा लोगोंके मनको समझने तथा अपने समीप लानेका प्रयत्न किया करे । जब अनेक साधक पेसा करनेवाले होजावेंगे, तो यह मानसिक प्रेम-तरंगे सर्वत्र मित्र-भावका विस्तार कर देगी ।

माया०—महाराज, यह तरंगे क्या होती हैं ?

महा०—बेटा, जैसे सूर्यकी किरणें होती हैं, वैसी ही सूक्ष्म किरणें अनेक प्रकाशात्मक भौतिक पदार्थोंसे निकलती हैं । विज्ञान-वेत्ताओंने उनके विषयमें विशेष अनुभव प्राप्त किया है । मनोविद्याके शास्त्रियोंका यह सिद्धान्त है कि मनके अन्दर भी यह बल है कि केवल विचारसे ही दूसरोंको प्रभावित कर लें । इस लिये वेदका यह उपदेश है कि अपने हृदयको प्रीतिसे युक्त करके, दूसरोंके मनोंको प्रभावित करो, ताकि वे आपके समीप आवें । आपसका झगड़ा दूर हो । शान्ति प्रेमके प्रभावसे सबका जीवन मधुर होजावे ।

(८) अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात् । इन्द्रा-
नमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि ॥ ९९ ॥

अर्थव० ६ । ४० । ३ ॥

अर्थः—(नः) हमें (अधरात्) नीचेसे (उत्तरात्) ऊपरसे (अनमित्रं) शत्रुहीनता [प्राप्त हो] । हे (इन्द्र) (नः)

हमें (पश्चात्) पीछेसे [और] (पुरः) आगेसे (अनमित्र)
शत्रुहीन (कृधि) कर ॥ ८ ॥

प्यारो, प्रतिदिन उठतेहुप और रात्रिको सोतेहुप, इस भावको हृदयमें धारण करो । अपने आपको समझाओ कि हमारा कोई शक्ति नहीं । सब दिशाओंमें हमरेलिये, विश्व-व्यापी मित्रभावका विस्तार होरहा है । भगवान्से प्रार्थना करो कि सबका भला हो । बुराई किसीके साथ न हो । पेसा अभ्यास करनेसे चित्त प्रसन्न रहने लगता है और अखण्ड शान्ति रहने लगती है । अन्दर तो अन्दर रहा, बाहर भी मुखकी कान्ति बढ़ जाती और होठोंपर मुस्क्यान रहती है ।

(९) इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न खमाय स्पृहयन्ति ।
 यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ १०० ॥ अ३० ८।२।१८॥

अर्थः—(देवाः) देवता (सुन्वन्तं) पुरुषार्थी, धर्मात्मा
मनुष्यको (इच्छन्ति) चाहते हैं, (स्वप्राय) स्वप्न-शीलको (न)
नहीं (स्पूहयन्ति) चाहते । (अतन्द्राः) आलस्य-रहित लोग
(प्र-मादं) परमानन्दको (यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

जहां सत्संगकी बड़ी महिमा है और मित्र-भावकी बड़ी आवश्यकता है, वहां यह निश्चय जानो कि सदा पुरुषार्थी बननेसे पूर्ण सफलता होगी । केवल पवित्र इच्छाओंसे कोई पवित्र नहीं बनता । बड़े बड़े आदर्शोंके चिन्तनसे ही कोई बड़ा नहीं बनता । यह मनुष्यका कर्म है, जो उसे पवित्र बनाता है, बड़ा बनाता है और जो कामना करे, वह पूरी करा देता है । वेद भगवान्का यह उपदेश है कि अपने पुरुषार्थपर ही अपने

आनन्दका आधार समझो । जो लोग सो जाते हैं, देवता उनसे अप्रसन्न होकर, जागतेहुए लोगोंको आनन्दित करनेकेलिये, उनके हाँ चले जाते हैं । अपने आप सहायक बनो, तब भगवान् भी सहायता करेगा, गुरु भी सहायता करेगा और सारे देवता भी सहायता करेंगे । मनुष्य अपना आप ही सबसे बड़ा शत्रु और अपना आप ही सबसे बड़ा मित्र है * ।

(१०) आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्वाम तदनु प्रवोलुम् । अग्निर्विद्वान् स यजात् सेदु होता सो अध्वरान् स ऋतून् कल्पयाति ॥ १०१ ॥ ऋक् ० १०।२।३ ॥

अर्थः—[हम] (यत्) जो [कुच्छ] (शक्वाम) कर सकते हैं (तत्) उसे (अनु) पूरा (प्र-बोदुं) पार पहुंचानेके लिये (आ) अच्छी तरहसे (देवानां) देवताओंके (पन्थां) मार्गको (अपि-आगन्म) प्राप्त हों । (अग्निः) सर्वप्रकाशक, प्रभु (विद्वान्) जाननेवाला [है], (सः) वह (यजात्) यज्ञ करावे (उ) और (सः-इत्) वही (होता) सबका धारण करने तथा सबको दान देनेवाला [है] । (सो) वही (अध्वरान्) यज्ञो [तथा] (ऋतून्) ऋतुओंको (कल्पयाति) सामर्थ्यसे युक्त करे ॥ १० ॥

* उत्तरार्धमें 'प्रमाद'का अर्थ परमानन्द किया गया है । अथवा, (अतन्द्राः) अप्रमादी [भी] (प्रमादं) प्रमादको (यन्ति) प्राप्त होसकते हैं । अर्थात् सदा जागते रहो । कभी अति-विश्वास करके सो ही न जाओ । जीवनकी पूर्णाहुति पर्यन्त चौकीदारी करना आवश्यक समझो ।

प्यारे पुत्रो, जितनी शक्ति है, उसके अनुसार अपना कार्यक्रम बनाओ । गौरीशंकरकी चोटी सबसे ऊँची है । जिसको हृदय की दुर्बलता तंग कर रही है, वह वहाँ नहीं जासकता । पर इसका यह अर्थ तो नहीं कि जहाँ तक वह जा सकता है, वहाँ भी न जावे । यहाँ बैठा २ रो २ कर दिन पूरे करदे । पुरुषार्थ करनेसे शक्ति बढ़ भी जाती है । आज जो काम नहीं हो सकता, वर्ष भरके अभ्यासके पीछे वही सुगम जचने लगता है । यही देवताओंका मार्ग है । इसका अवलंबन करो और प्रभुकी विभूतिका आश्रय लो । देखो, सारे कायाँको सिद्ध करनेके लिये प्रभुके रचे हुए जगत्के पदार्थोंकी आवश्यकता पड़ती है । उसीके सामार्थ्यसे यह ब्रह्मण्ड-यज्ञ हो रहा है । वही सबसे बड़ा होता और दानी है । किसी छोटेसे कामको करके, भूल कर भी धमण्डमें न आ जाना । इससे आगे कार्य करनेकी शक्ति मारी जाती है । पूरा उद्यम करो और फिर प्रभुपर छोड़ दो । फिर पुरुषार्थ करो और वैसेही भगवान्के सपुर्दे करदो । इससे असफल होकर शोक न होगा । हाँ, उत्साह बना रहेगा, और समय आवेगा, जब सफलता भी प्राप्त हो । उदास कभी मत होवो । यही दिव्य-मार्ग है । इसपर चलनेका निरन्तर अभ्यास करते हुए आगे आनेवाले साधनोंको धारणकरो ॥

दूसरा खण्ड

आचार-प्रतिष्ठा ।

महा०—सज्जनो, सावधान होकर अब सुनते चलें । देखिये, वेद हमें किस प्रकारकी भगवान्‌से प्रार्थना करनेके लिये प्रेरणा करता है ।

सत्य०—महाराज, क्या प्रार्थनासेही हमारी तथ्यारी पूरी हो जावेगी ।

महा०—नहीं, वेदा । साथ आचरण भी करो । प्रभुके चरणोंमें विश्वासपूर्वक प्रार्थना करनेसे साधकका बल बढ़ जाता है ।

वस्तु०—तो, क्या इसी लिये वेदके सारे उपदेश प्रायः प्रार्थनाके रूपमें हैं ?

महा०—बिल्कुल ठीक । सर्वत्र यही आशय है कि मनुष्य इन बातोंको भगवान्‌से वर मांगे और धारण करनेका प्रयत्न करे । उद्यमी लोग प्रभुविश्वासकी चटानपर खड़े होकर आश्रम्यजनक कार्य कर जाते हैं । आचारकी प्रतिष्ठाके बिना अन्तःकरणका विकास नहीं हो सकता । वेद इस विषयमें क्या सुन्दर उपदेश कर रहा है ! सुनो,—

(१) परिमाये दुश्चरिताद्वाधस्वा मा सुचरिते भज ।
उदायुषा स्वायुषोदस्याममृताँ अनु ॥१०२॥ यजु० ४ । २८॥

अर्थः—हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप, प्रभो ! (मा) मुझे (दुःचरितात्) बुरे आचरणसे (परि-वाधस्व) सर्व प्रकारसे

हटा, (मा) मुझे (सुचरिते) अच्छे आचरणमें (आ-भज) अच्छे प्रकार लगा । (उत्) और (सु आयुषा) अच्छे लक्ष्यसे युक्त (आयुषा) जीवनसे [युक्त होकर] (अमृतान्) देवताओं और मुकात्माओंके (अनु) अनुकूल चलकर (उत्-अस्थाम्) ऊचा उड़ूं ॥ १ ॥

मानसिक तालाबसे गन्दे पानीको पहिले निकालो । फिर शुद्ध जल डालो । जीवनकी भलाईका चिह्न यह है कि मनुष्य सदा उच्च पुरुषोंके जीवनका अनुकरण करे ।

(२) प्रति पन्थामपद्धिं स्वस्तिगामनेहसम् । येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥१०३॥ ०—२९॥

अर्थः—[हम] (स्वस्ति-गां) कल्याणकी ओर ले जाने वाले (अनेहसं) हिंसा रहित (पन्थां) मार्गपर (प्रति-आपद्धिं) सदा चलें, (येन) जिस [पर चलने] से [मनुष्य] (विश्वाः) सब (द्विषः) दुःखकारक कार्योंको (परि-वृणक्ति) छोड़ता [और] (वसु) ऐश्वर्यको (विन्दते) प्राप्त होता है ॥ २ ॥

वह मार्ग कदापि सुख और कल्याणका कारण नहीं हो सकता, जिसपर चलते हुए गढ़ोंमें गिरकर जीवनसे ही हाथ धो बैठे । द्वेष करने वाला मनुष्य वास्तवमें अपनेसे द्वेष करता है । उसे कभी मानसिक शान्ति नहीं मिलती । वास्तविक ऐश्वर्य सदा उससे दूर रहता है । अहिंसात्मक मार्गपर चलनेसे अपना भी और दूसरोंका भी कल्याण करो ।

(३) माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त आतानानर्वा प्रेहि ।
वृतस्य कुल्या उपऋतस्य पथ्या अनु ॥१०४॥ यजु० ६। १२॥

अर्थः—[हे साधक], (अहिः) सांप (मा) मत (भूः) बन, (पृदाकुः) अजगर (मा) मत [बन], (आतान) हे विस्तार पानेवाले, (ते) तेरेलिये [सब ओर] (नमः) अन्नादि सामग्री और प्रतिष्ठा [विद्यमान है], (अनर्वा) सवारीके बिना (प्र-इहि) चल पड़ो । (ऋतस्य) सच्चाईके (पथ्याः) मार्गोंके (अनु) साथ २ (घृतस्य) घृतकी (कुल्याः) नहरें (उप) समीपवर्ती होकर [बहती हैं] ॥ ३ ॥

सरलता आचारका मूलाधार है । कुटिलता सांपोंमें ही रहने दो । वेद मनुष्योंको सांप बननेसे रोकता है । सरल साधक सत्यको धारण करके और किसी सवारीकी परवाह न करे । घोड़े आदिकी सवारीका उद्देश्य शीघ्र पहुंचना होता है । परन्तु वेद कहता है कि सत्यके मार्गपर शनैः शनैः चलने वाले साधकों किसी प्रकारकी चिन्ता न होनी चाहिये । जीवनकी सामग्रीसे वह कभी तंग न रहेगा । उसकी सारी यात्रा आनन्द, सन्तोष, प्रतिष्ठा और पुष्टिसे युक्त होगी । कुटिलता और झूठसे आरम्भमें शायद कुछ सुख मिल जावे । परन्तु उसका परिश्रम दुःखसे भरा हुआ होता है ।

(४) सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते । तयोर्यत् सत्यं यतरद्वजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ १०५ ॥

ऋक् ० ७ । १०४ । १२ ॥

अर्थः—(चिकितुषे) विज्ञान (जनाय) मनुष्यकोलिये (सुविज्ञानं) भली प्रकार [इस बातका] समझना सुगम है [कि] (सत्) सत्य (च) और (असत्) असत्य (वचसी)

बचन (पस्पृधाते) आपसमें लड़ते रहते हैं । (तयोः) उनमेंसे (यत्) जो (सत्यं) सत्य [और] (यतरत्) जौनसा (ऋजीयः) अधिक सरलतासे युक्त होता है (तत्) उसकी (इत्) ही (सोमः) सर्वैश्वर्यका प्रभु (अवति) रक्षा करता है, (असत्) असत्यका (आ-हन्ति) नाश कर देता है ॥४॥

सत्य और अनृतका परस्पर झगड़ा सदासे चला आरहा है । विद्वान् मनुष्यको चाहिये कि सत्यका आश्रय ले और असत्यका त्याग करे ।

सत्य०—महाराज, यदि असत्य ऐसा बुरा था, तो इसकी उत्पत्ति ही क्यों हुई?

महा०—मोले भाई, तुम भूल रहे हो । हर प्रकारसे जीवनकी सत्ताको सफल करनेवाले नियमोंका नाम सत्य है । जीवनको नष्ट करनेवाले, दुर्गुणों और दुर्व्यसनोंका नाम असत्य है । बुद्धिका कार्य दोनोंके मध्यमें विवेक करना है । बलवान् आत्माका काम सत्यपर चलना है । बुद्धि और आत्माके बलके सामने असत्य नहीं ठहरता । पर, इस बलके न होनेसे पग पगपर मनुष्य ठोकरें खाता है ।

अन्त०—इसका तो यह भाव हुआ कि संसारमें न सत्य है और न असत्य है?

महा०—नहीं । प्राकृतिक नियमानुसार जो कुच्छ होरहा है, वह सब सत्य है । प्राणियोंद्वारा जो कुच्छ किया जारहा है, वह सत्यरूप तथा असत्यरूप दो प्रकारका है । इस भेदका कारण पूर्व कहे बलका भेद है । इस लिये अपना बल बढ़ाओ ।

सत्यपर चलो । प्रभुने सबके अन्दर विवेककी शक्ति तथा सत्यके प्रति श्रद्धाको स्थापित किया है ।

(५) दृष्टा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाण्णसत्ये प्रजापतिः ॥१०६॥

यजु० १९ । ७७ ॥

अर्थः—(प्रजापतिः) परमेश्वरने (दृष्टा) देखकर (सत्यानृते) सत्य और असत्य (रूपे) रूपोंको (व्याकरोत्) अलग अलग कर दिया है । (प्रजापतिः) प्रभुने (अनृते) असत्यमें अश्रद्धा [और] (सत्ये) सत्यमें (श्रद्धां) श्रद्धाको (अदधात्) धारण किया है ॥५॥

बालक स्वभावसे सत्यवादी होता है । शनैः २ सभ्यताका अभिमान करनेवाले लोगोंका अनुकरण करताहुआ असत्यरूप आचरणकी शिक्षा पाता है । अतः सत्यरूप, स्वाभाविक प्रवृत्तिको पहचानकर, उसे उन्नत करनेका अभ्यास करना चाहिये । असत्यरूप कर्मका फल अच्छा नहीं होता ।

(६) असद् भूम्याः समभवत् तद् द्यामेति महद्यचः ।
तद्वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु ॥१०७॥

अर्थव० ४ । १९ । ६ ॥

अर्थः—(असत्) असत्य (भूम्याः) भूमिसे (सम्-अभवत्) उठता है, (तत्) वह (द्यां) आकाशमें (महत्) बड़े (व्यचः) विस्तारको (पति) पाता है । (ततः) फिर (वै) निश्चय करके (तत्) वह (वि-धूपायत्) बड़ा फूलता

हुआ (प्रत्यक्) वापिस (कर्त्तारं) कर्त्ताको (क्रच्छतु) प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

साधारण लोग असत्यके विस्तारको देखकर कुच्छ दबसे जाते हैं । परन्तु वेद भगवान् चेतावनी देता है कि इस ऊपर ऊपरके साफल्यसे मत भूलो । यह सब कुच्छ क्षणिक है । अन्तमें उस पापका कर्त्ता जकड़ा जानेवाला है । भला वही है, जिसका अन्त भला है । इस लिये सदा सत्याचरणमें ही अद्वा करो ।

(७) यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा । यथोत मग्नयो मन एवेष्योर्मृतं मनः ॥ १०८ ॥ अथर्व द३१८॥

अर्थ :—(यथा) जैसे (भूमिः) भूमि (मृतमनाः) मरे हुए मनवाली, (मृतान्) मुर्देसेभी (मृतमनस्तरा) अधिक मरेहुए मनवाली [है], (उत) तथा (यथा) जैसे (मग्नयः) मरेहुएका (मनः) मन [मुर्दा होजाता है] (एव) ऐसेही (ईर्ष्योः) ईर्ष्या करनेवालेका (मनः) मन (मृतं) मरजाता है ॥ ७ ॥

सत्याचरणी ईर्ष्या और देषके इस भयानक परिणामको समझते हैं । वे इस हृदयाग्निमें नहीं झुलसते और जलते । वे सबकी उन्नति चाहते हैं । मिट्टी और पत्थरमें दिल नहीं, मुर्दा शरीरमें दिल ठण्डा पड़जाता है । परन्तु ईर्ष्या करनेवाला जीवित जाग्रत् होता हुआभी अपने हृदयको पत्थर और मुर्दा होनेसे नहीं बचा सकता । वह अपनीही जलाईहुई भट्टीमें दिनरात धुखता रहता है ।

(८) यो नो रसं दिप्सति पित्वो अये यो अश्वानां यो
गवां यस्तनूनाम् । रिपुः स्तेनः स्तेयकृद्ब्रमेतु नि ष हीयतां
तन्वा तना च ॥ १०९ ॥ ऋक् ७ । १०४ । १० ।

अर्थः—(यः) जो (नः) हमारे मध्यमें (पित्वः) अन्नके
(रसं) रसके विषयमें, (यः) जो (अश्वानां) घोड़ों (गवां)
गौओंके (तनूनां) शरीरोंके संबंधमें (दिप्सति) धोखा करता है,
हे (अग्ने) सर्वज्ञ, प्रभो, (सः) वह (रिपुः) शत्रु (स्तेनः) चोर
(स्तेयकृत) चोरी करनेवाला (दम्भ) नीचताको (पतु) प्राप्तहो ।
(च) और (तन्वा) स्वयं [तथा] (तना) सन्तानके विषयमें
(नि हीयतां) पतितहो ॥ ८ ॥

प्यारो, कितने दुःखकी बात है । आज इस देशमें न
अन्न ठीक मिलता है और न दूध और धी मिलता है । वेदके
शब्दोंमें पापी लोग अन्नके रस और पशुओंके शरीरकी चोरी
कर रहे हैं । राजाका कर्तव्य है कि इन सामाजिकशत्रुओंको
उचित दण्ड देवे । कितना शोक है कि जहांके धर्म-ग्रन्थोंका
यह आदर्श था, वहांही पेसा अनर्थ होरहा है ।

(९) परः सो अस्तु तन्वा तना च तिस्तः पृथिवीरथो
अस्तु विश्वाः । प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा
दिप्सति यश नक्तम् ॥ ११० ॥

०—११

अर्थः—(यः) जो (नः) हममेंसे (दिवा) दिनको (च)
या (नक्तं) रातको (दिप्सति) दम्भ [और चोरी आदि]
करना चाहता है, हे (देवाः) देवताओं, (अस्य) इसका (यशः)

यश (परि) पूरी तरह (शुघ्यतु) सूखजावे। (सः) वह (तन्वा) स्वयं (च) और (तना) सन्तानके विषयमें [सभ्य समाजसे] (परः) बाहिर (अस्तु) हो, [वह] (विश्वाः) सारी (तिस्रः) तीनों (पृथिवीः) पृथिवियोंके (अधः) नीचे (अस्तु) हो ॥९॥

वेद भगवान्के सभ्य समाजमें दम्भी, पाखण्डी, चोरोंका कोई स्थान नहीं। पृथिवीपर उनका रहना ठीक नहीं। एकके स्थानपर तीन पृथिवियाँहों और उनसेभी नीचे कोई स्थानहो, तो वहां ऐसे दुष्कर्मियोंको धकेल देना चाहिये। यह कर्म यशके घातक हैं। प्रत्येक साधकको अपना घर इनसे बचाकर, शुद्ध रखना चाहिये।

(१०) देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना । वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः ॥१११॥ यजु० १९।१२

अर्थ:—(इन्द्राय) इन्द्रकेलिये (इन्द्रियाणि) इन्द्रियोंको (दधतः) धारण करनेवाले [साधक] की (सरस्वती) विद्या (वाचा) वाणीद्वारा (भिषक्) वैद्य [का काम करती] है। [उसके लिये] (देवाः) देवता (यज्ञ) यज्ञका (अतन्वत) विस्तार करते हैं, (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्वी (भेषजं) चिकित्साका [विस्तार करते हैं] ॥१०॥

इन्द्र जीवात्माका नाम है। जो साधक इन्द्रियोंके अधीन न होकर, उनको अपने वशमें रखता है, उसकी वाणीमें लोगोंके लिये विशेष, हितकारी प्रभाव होता है। उसकी सम्मतिसे चलकर, उनके सकलदोष दूर होजाते हैं। वह जहां देखता है, यज्ञ अर्थात् परोपकारके विस्तारकोही देखता है। अश्वी,

अर्थात् सूर्य और चन्द्र अथवा दिन और रात, प्रतिक्षण संसारके दुःखहरणकी सामग्री उसके आगे रखते रहते हैं । संयमी मनुष्य स्वयं सुखी रहता और दूसरोंको सुखी बनाता है ।

(११) सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यं-
हुरो गात् । आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धर-
णेषु तस्थौ ॥११२॥

ऋक् ० १०।५।६॥

अर्थ :—(कवयः) विद्वान्नोने (सप्त) सात (मर्यादाः) मर्यादापं (ततक्षुः) बनाई हैं, (तासां) उनमेंसे (एकां-इत) एककोभी [जो] (अभि-गात्) उल्लंघन करे, [वह] (अंहुरः) पापी [होता है] । (ह) निश्चय करके (आयोः) जीवनका (स्कम्भः) आधार (प्रभु) (उपमस्य) समीपवर्ती (नीडे) मकानमें [अर्थात् भूमिपर] (पथां) मांगोंके (विसर्गे) विस्तारके स्थान [=अन्तरिक्ष] में (धरणेषु) जलोंमें (तस्थौ) विराजमान है ।

सामाजिक शान्तिके लिये वैदिक क्रियान्वयने सात मर्यादाओंको उल्लंघन करना पाप माना है । (१) चोरी (२) कामातुरता (३) हिंसा (४) असत्य (५) नशीले द्रव्योंका सेवन (६) जुआ और (७) इस प्रकारके व्यसनोंमें पड़कर, ज्ञान होनेपर भी छूट न सकना—यह भयंकर परिणाम है, जिनसे बचनेकेलिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय संयम, क्रजुता, न्याय तथा अलोभ आदि मर्यादाओंके अन्दर रहना चाहिये । परमात्मा जल, स्थल और आकाशमें विराजमान होकर; धर २ का अन्तर्यामी बना हुआ है किसी प्रकारके बाह्य अथवा आन्तरिक पापको मनुष्य उससे छिपा नहीं सकता ।

वस्तु०—महाराज, इस प्रकार और धर्मपुस्तकोंने भी नियम बांधे हैं ?

महा०—हां, बेटा, प्रायः जितने सम्प्रदाय हैं, सबके धर्मग्रन्थोंमें इस प्रकारका वर्णन मिलता है। परन्तु वेदके शब्दोंमें जो बल है, वह और कहीं नहीं। धार्मिक दृष्टिसे उच्चसे उच्च आदर्श यह पवित्रग्रन्थ आपके सामने रखता है।

सत्य०—और, यह है सबसे पुराना ग्रन्थ ।

महा०—निस्सन्देह । वेद सब धर्मपुस्तकोंसे प्राचीन होता हुआ भी सबसे अधिक शिक्षादायक है। वैदिक सभ्यता आदर्श सभ्यता है। इन प्रमाणोंके होते हुए, जो उत्तरोत्तर विकासवादी वेदकी निन्दा करते हैं, वे सूर्य पर थूकते हैं।

माया०—महाराज, अब और क्या प्रसंग चलेगा ?

महा०—वस, आज इतना ही बहुत है। कल इस बातपर विचार करेंगे, कि इन बातोंको हम धारण कैसे कर सकते हैं।

—:o:—

तीसरा खण्ड

यात्राका आरम्भ ।

लोक०—महाराज, जिस वैदिक मार्गको आपने उपदेश किया है, उसपर अब चलनेकेलिये आवश्यक तथ्यारी क्या होनी चाहिये ?

महा०—प्यारे बेटा, मार्गको जब जान लिया, तो उसपर चल पड़ना ही तथ्यारी है। जैसा यह मानसिक मार्ग है, ऐसीही

इसके लिये तथ्यारी भी मानसिक चाहिये । सबसे प्रथम प्रतिदिन प्रातः उठकर मधुर स्वरसे प्रभुसे यह प्रार्थना किया करो ।

(१) अग्ने त्वं सुजागृहि वयैऽसुमन्दिषीमहि । रक्षाणो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥११३॥ यजु० ४ । १४ ॥

अर्थः—(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप, भगवन्, (त्वं) आप (सु) अच्छी तरहसे (जागृहि) जागें, (वयं) हम (सु) अच्छी तरहसे (मन्दिषीमहि) आनन्द पावें । (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित होकर (नः) हमारी (रक्षा) रक्षा करो । (नः) हमें (पुनः) (प्रबुधे) जागनेके [योग्य] (कृधि) बनाओ ॥१॥

भगवन्; आपका ज्ञान सदा एकरस बना रहता है । परन्तु हम अपनी भूलसे आपकी छत्रच्छायाके नीचे रहतेहुए भी; आपकी दया तथा सहायताके पात्र नहीं बनते । हे हमारे हृदयोंके स्वामिन्, आवरण दूर हो, अविद्याका नाश हो । हम अज्ञानकी लपेटमें आकर गाढ़ निद्रामें सोतेहुए, आपको भी सोयाहुआ समझे बैठे थे । हे भगवन्, जो हुआ, सो हुआ । अब सर्वत्र जागृति हो । प्रमाद दूर हो । आपकी कृपासे यह हमारी धार्मिक जीवन-यात्रा सफल हो ।” इस प्रकार भगवान्की आराधना करके अपने दिन भरके कार्योंको उत्साहसे करनेका संकल्प धारण करो । जीवनमें मिठास पैदा करनेका प्रयत्न करो । घबराहटसे कोई काम मत करो ।

(२) मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् । वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दशः ॥११४॥ अर्थव० १।३४।३॥

अर्थः—(मे) मेरा (निक्रमणं) पग धरना (मधुमत्) मिठाससे युक् [हो], (मे) मेरा (परा-अयनं) आगे बढ़ना (मधुमत्) मीठा [हो] । (वाचा) वाणीसे (मधुमद्) मीठा (वदामि) बोलूँ । (मधुसन्देशः) मधुर दृष्टिवाला (भूयासं) होऊँ ॥२॥

प्रत्येक साधकको संसारके अन्दर रहकर हीं सिद्धि प्राप्त करनी है । दूसरोंके साथ व्यवहारमें आना पड़ेगा । सबका स्वभाव एक जैसा नहीं होगा । सब प्रकारके लोगोंसे संसर्ग होगा । प्यारो, देखना, कहीं साधक बनतेहुए असहिष्णु होकर अपना ही योग ख़राब न कर बैठना । जिस मार्गपर अब तुम चलोगे, उसपर सर्व साधारण नहीं चलते । इस लिये कहीं उनके प्रति तुम्हारे अन्दर घृणाका भाव न पैदा होजावे । वेदका यह सन्देश रहस्यसे पूर्ण है । यह अनुभव किया गया है कि संयमी और अभ्यासी लोगोंमें कुच्छ चिह्नचिह्नापन आजाता है । यह ठीक नहीं है । वह योग क्या हुआ, जो मिठासको ही हर ले । इस लिये वेद भगवान्के इशारेको समझो । उत्साह और माधुर्यसे युक् होकर कार्यका आरम्भ करो । वैसे ही उसमें आगे बढ़े चलो । जब दूसरोंसे बोलो, मीठी वाणी बोलो । जब उनकी ओर देखो, मिठाससे भरी आँखेसे देखो । सबसे प्रीति और मित्रभाव रखो । अशान्ति और क्रोधको अपनी शान्तिके अमृतसे ठण्डा कर दो । जब कोई क्रोध करे, तो उसे यह कहो—

(३) अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः । यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै ॥११५॥ अर्थव०८४।४२।१॥

अर्थः—[हे सज्जन,] (धन्वनः) कमानके (ज्यां) चिल्हेकी (इव) तरह (ते) तेरे (हृदः) हृदयके (मन्युं) उबालको (अव-तनोमि) ढीला करता हूँ । (यथा) ताकि (संमनसौ) एक मनवाले (भूत्वा) होकर (सखायौ-इव) मित्रोंके समान (सचावहै) मिलकर कार्य करें ॥ ३ ॥

प्यारो, ऐसा कहकर, अपनी शान्तिसे उसे शान्त कर सकतेहो । पर जब दोनोंहीं वीर कमान कसकर खौलरहे हों, तो शान्ति कैसे रहे ? मित्रता कैसे रहे ? मिलकर कार्य कैसे हो ? संसारका कल्याण कैसे हो ? मानस योगकी सिद्धि कैसे हो ?

(४) अश्मन्वती रीयते स ऐरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः । अजात्रहीमो अशिवा ये असञ्चिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ ११६ ॥ यजु० ३५ । १० ।

अर्थः—(अश्मन्वती) पथरोंवाली [नदी] (रीयते) चलरही है, (सं-रभध्वं) तथ्यार होजाओ, (उत्-तिष्ठत) उठो (सखायः) मित्र [बनकर] (प्र) अच्छी तरहसे [उसे] (तरत) पार करो । (अत्र) यहां [परही] (ये) जो (अशिवाः) दुःख देनेवाले [पापात्मक विचार तथा कर्म] (असन) हों, [उन्हें] (वयं) हम (जहीमः) छोड़ते हैं, (शिवान्) मंगल करनेवाले (वाजान्) बलादिको (अभि-उत्तरेम) अच्छे प्रकार प्राप्तहों ॥ ४ ॥

माया०—महाराज, यह नदी कौनसी है ? क्या संसारसे तात्पर्य है ?

महा०—हां, यही पथरोंवाली नदी है, जिसे हम सबने पार करना है । यह कठिन कार्य है । पहाड़ी लोगोंको ऐसी

नदियां पार करतेहुए आपने देखा होगा । चार २ पांच २ मनुष्य एक दूसरेका हाथमें हाथ पकड़कर, इनके बड़े २ वेगोंको पार करलेते हैं । अकेले दुकेलेका यह काम नहीं । सोये हुओंका यह काम नहीं । अतः संगठित होकर, परस्पर सहायक बनकर चलो । अमंगल और असत्यके विचारोंको यहीं छोड़दो । बल, उत्साह और सिद्धिके संकल्पोंसे अपने मनको भरदो । पुण्य और पापका मेल नहीं होसकता, यह निश्चय जानो ।

(५) यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं
भवति यद् वृणीषे । ताभिष्ठूमस्मां अभि सं विशस्वान्यत्र
पापीरप वेशया धियः ॥११७॥ अर्थव० ६ । २ । २५ ॥

अर्थः—(काम) हे काम, (याः) जो (ते) तेरे (शिवाः) शान्ति करनेवाले (भद्राः) कल्याणयुक्त (तन्वः) स्वरूप [हैं], (याभिः) जिनकेद्वारा (यद्) जो कुच्छ (वृणीषे) दू चाहता है [वह] (सत्यं) पूरा (भवति) होजाता है । (ताभिः) उनके साथ (त्वं) दू (अस्मान्) हमारे (अभि-सं-विशस्व) अन्दर प्रविष्ट हो, (पापीः) पापी (धियः) वासनाओंको (अन्यत्र) बाहिर (वेशय) कर दे ॥५॥

मानसिक सागरमें इच्छाकी तरंगें उठती रहती हैं । यह पुण्य, पापके भेदसे दो प्रकारकी हैं । हे साधको, अपने मनको पुकारकर कह दो कि कोई बुरी इच्छा पैदा न हो । जो इच्छा पैदा हो और पूरी न हो, या मनुष्यको हानि पहुंचावे, वह निर्बल बनाती है । अतः क्रियात्मक योगकी सिद्धिका यही उपाय है, कि छोटा पग धरो, पर वह निश्चल भूमिपर हो ।

तुम्हारी चाल प्रतिष्ठा और स्थिरतासे युक्त हो । इसका परिणाम यह होगा कि जहां भी सांझ हो जावेगी, वहां तुम प्रतिष्ठित हो सकोगे । यह अनुभव नहीं होगा कि कहां निकल आये । यहां तो निर्जन बन है और कोई सहारा नहीं है । इस लिये इच्छाओंकी डोरी इतनी लम्बी मत छोड़ो, कि तुम्हारे वशसे बाहिर होकर, कष्टका साधन बन जावें । और, इस बातका भी ध्यान रखें कि वे सदा शिवरूप और मंगलमय हों । पेसा साधन और अभ्यास करनेसे चिन्तका प्रसाद प्राप्त होगा और जो व्रत ग्रहण करोगे, उसके पूरा करनेमें सुभीता होगा ।

(६) तपश्चास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे । तपो ह जङ्गे
कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ११८ ॥ अथर्व० ११।८।६ ॥

अर्थ:—(महति) बड़े (अर्णवे) समुद्रके (अन्तः)
अन्दर (तपः) तप (च) और (कर्म) (आस्तां) थे । (तपः)
तप (ह) निश्चय करके (कर्मणः) कर्मसे (जङ्गे) पैदा हुआ,
(तत्) उसे (ते) उन्होंने (ज्येष्ठ) सबसे बड़ा [मानकर]
(उपासत) धारण किया ॥ ६ ॥

सब प्रकारकी उच्चतिका मूल कर्म है । इस महासागर, संसारकी उत्पत्तिमें भगवानकी प्रेरणासे सब कुच्छ हुआ । वही प्रेरणा कर्मका बीज हुई । सारा जप, तप, ध्यान और योगा-भ्यास शारीरिक या मानसिक कर्मरूप है । कर्मको ही सब साधनोंसे श्रेष्ठ और सबका मूलकारण समझो । इसीकी उपासना करके देवताओंका देवतापन, ऋषियोंका ऋषिपन और महात्माओंका महात्मापन सिद्ध हुआ । इसे धारण करो । कर्म-

हीनता महापाप है । कर्मशयता महापुण्य है । इस लिये वेद भगवान् इस पवित्र मार्गके पथिकोंको उपदेश करता है कि वे कर्मवीर, धर्मपरायण बननेका यत्न करते रहें ।

(७) भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुप-
निषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप-
संनमन्तु ॥ ११९ ॥ अर्थव० १६ । ४१ । १ ॥

अर्थः—(स्वर्विदः) आनन्दरूप लक्ष्यको समझनेवाले (ऋषयः) ऋषियोंने (भद्रं) कल्याणकी (इच्छन्तः) इच्छा करतेहुए (अग्रे) पहिले (तपः) तप [और] (दीक्षां) दीक्षाको (उप-निषेदुः) धारण किया । (ततः) फिर (राष्ट्रं) राष्ट्रं (बलं) बल (च) और (ओजः) ओज (जातं) पैदा हुआ (तत) इसलिये (अस्मै) इस [साधन] को (देवाः) विद्धान् (उप-संनमन्तु) आदरसे धारण करें ॥ ७ ॥

प्यारे साधको, सुख प्रत्येक प्राणी चाहता है, परन्तु उसे पाता नहीं । ऋषि भी सुख चाहते हैं । परन्तु वे पहिले ज्ञान-चक्षुसे अविनाशी सुखके स्वरूपको समझकर, उसे धारण करनेकेलिये तप और दीक्षाका आश्रय लेते हैं । कर्म करना ठीक है । परन्तु प्रत्येक कर्म एक जैसा नहीं होता । वही कर्म थ्रेष्ठ है, जो साधकके तपको सिद्ध करावे लक्ष्यतक पहुंचनेके लिये कर्म बराबर जारी रहे । सैंकड़ों और लाखों विद्म आवें । रोग हो, निर्धनता हो । राज्य-कोप हो, समाज-कोप हो, विश्वास-धात हो, मित्र-द्रोह हो । जो कुच्छ हो, सो हो । परन्तु कार्य-सिद्धिका उद्देश्य न ओझल हो । इस मानसिक धारणाके

क्रियात्मकरूपका नाम तप है । यह थ्रेषु कर्मरूपी बीजका सुगन्धियुक्त फूल है । दीक्षाका भाव है, उचित योग्यता । जिस कार्यको सामने रखो, उसकेलिये अधिकारी भी बनो । एक बालक बड़ा परिश्रमी है । परन्तु अव्वानके कारण वह चाहता है कि अभीसे सबसे ऊंची परीक्षाको पास कर लं । क्या उसका तप काम आवेगा ? नहीं, क्योंकि वह उस कार्यमें दीक्षित हुए विना लग रहा है । हां, उसे धैर्य धारण करके छोटी परीक्षाओंको क्रमसे उत्तीर्ण करना चाहिये । समय आवेगा, जब वह अन्तिम परीक्षाको भी पार कर सकेगा । इसी आशयसे ऋषियोंने अधिकारी-भेदसे भिन्न २ आश्रमों और वर्णोंका विभाग किया और सबके भिन्न २ कर्म तथा धर्म निश्चित किये ।

ज्ञानपूर्वक तप और दीक्षाको धारण करनेसे, वेदके उपदेशानुसार लोक और परलोककी संपत्ति मिलजाती है । राज्यवल मांगो, धन, धान्य मांगो, ब्रह्मवर्चस मांगो, तेज और कान्ति मांगो, जो चाहो, सो मांगो । सब मिलेगा । परन्तु प्रत्येक साधकको कल्याणका द्वार तप और दीक्षाके मार्गपर चलतेहुएही दिखाई पड़ेगा । यह द्वार सबकेलिये एक जैसा खुला है । यही वैदिक शिक्षाका महत्व है । सारे संसारको एक बात कहदी है । भिन्न २ व्यक्तियां और जातियां अपनी २ परिस्थिति और अधिकारके अनुसार इसपर आचरण करें और सुख पावें ।

(८) व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयामोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ १२०॥

यजु० १६ । ३० ॥

अर्थ :—(ब्रतेन) ब्रतके द्वारा [साधक] (दीक्षां) दीक्षाको (आप्नोति) प्राप्त होता है, (दीक्षया) दीक्षाद्वारा (दक्षिणां) दक्षिणाको (आप्नोति) प्राप्त होता है । (दक्षिणा) (श्रद्धां) श्रद्धातक (आप्नोति) लेचलती है, (श्रद्धया) श्रद्धा-द्वारा (सत्यं) सत्यकी (आप्यते) प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

सज्जनो, इस मंत्रने आपकेलिये चार पड़ाव बना दिये हैं । आपके मनमें यह इच्छा उठ रही होगी, कि हम तप और दीक्षाको धारण करके, मनोरथ सफल करें, आपकी यह इच्छा बहुत पवित्र है । परन्तु यदि वास्तवमें सिद्ध होना चाहतेहो, तो ब्रत ग्रहण करो । कोई बात निश्चित करलो । उदाहरणकेलिये दोनों समय सन्ध्या करनेका ब्रत ग्रहण करो । अब सोचो, सन्ध्या कैसे करोगे । आपको मन्त्र स्मरण करके, उनका अर्थ समझना चाहिये । केवल तोतेकी तरह रटनेका कोई आत्मिक जाभ नहीं होसकता । इसलिये किसी योग्य गुहके पास पहुंचो । सेवा तथा योग्यतासे उसकी कृपाके पात्र बनो और उसके उपदेशसे सच्चे आस्तिकभावसे युक्त होकर, सन्ध्याके आसनपर बैठनेके अधिकारी बनो । अब आप दीक्षारूपी दूसरे पड़ावपर पहुंच चुकेहो । अब ध्यानसे चलना । मन चंचल है । इधर उधर भटकावेगा । इसकी बातोंमें आकर, कहीं इधर उधर भटकने न लग जाना । यदि रातभर जागते रहे, नाटकों और तमाशोंमें फिरते रहे, तो प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें उठ नहीं सकोगे । यदि व्यायाम, स्नान, दन्तधावनादि शारीरिककार्य ठीक न करोगे, तो ध्यान स्थिर नहीं होगा और आसनभी ठीक न लग सकेगा । परिणाम यह होगा कि तुम्हारा संध्याका ब्रत सफल

न हो सकेगा, इसलिये अपने सारे जीवनको, खान, पान, शयन और जागरणको नियममें लाकर, संध्या करनी आरंभ करो, तो मार्ग विस्तृत होने लगेगा । स्वास्थ्य बढ़कर शारीरिक सुख होगा । मानसिक शान्ति प्राप्त होने लगेगी, काम करनेमें चित्त लगेगा । यही दक्षिणाकी प्राप्ति है । अब तुम्हारा विश्वास बढ़ेगा । सन्ध्यामें अधिक चित्त लगेगा । इसके सामने शेष सुख तुच्छ प्रतीत होंगे । अद्वाकी मनमें प्रतिष्ठा होगी । समय आवेगा, जब कि योगयुक्त होकर, तुमलोग नित्यानन्दके भागी बनो । यही सत्यकी प्राप्ति है । प्यारो, व्रत, दीक्षा, दक्षिणा और अद्वाके चार स्तंभोंपर सत्य-देवताका विशाल भवन खड़ा है । इन्हें उक्त प्रकारसे समझो और धारण करो ।

(९) अग्ने व्रतपते व्रतञ्चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे
राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ १२१ ॥

यजु० १ । ५ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप, (व्रतपते) व्रतोंके रक्षक, (व्रतं) व्रतका (चरिष्यामि) पालन करूँगा, (तत्) इसलिये (शकेयं) सामर्थ्यसे युक्त होऊँ, (मे) मेरा (तत्) वह [व्रत] (राध्यतां) सिद्ध हो । (इदं) यह (अहं) मैं (अनृतात्) असत्यसे [निकलकर] (सत्यं) सत्यको (उपैमि) पाऊँ ॥ ६ ॥

महाशयो, इस सत्य-ग्रहणरूपी व्रतको सबसे पहिले धारण करो । सदा अब इसका ही ध्यान रखना । मन, वचन और कर्मसे कभी भूलकर भी असत्यका विस्तार न करना । सत्यके मण्डन और असत्यके खण्डनकेलिये सदा उद्यत रहना ।

(१०) प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्तु आदित्य
शिक्षति व्रतेन । न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो
अश्वोत्यन्तितो न दूरात् ॥ १२२ ॥ ऋक् ० ३ । ५९ । २ ॥

अर्थः—(मित्र) हे सर्व ससारके मित्र, प्रभो, (आदित्य)
अखण्ड नियमोंके स्वामिन, (यः) जो (ते) तेरे(व्रतेन) व्रतके
अनुसार (शिक्षति) कार्य करता है, (सः) वह (मर्तः) मनुष्य
(प्रयस्वान्) धन, धान्यसे युक्त होकर (प्र-अस्तु) उन्नत
हो । (त्वोतः) तुझसे रक्षित होकर (न) [वह] (हन्यते)
मारा जाता [और] (न) (जीयते) जीता जाता है, (न)
(अन्तितः) समीपसे [और] (न) (दूरात्) दूरसे (एन)
उसे (अंहः) पाप (अश्वोति) छूता है ॥ १० ॥

इस प्रकार, प्यारो, जगदीश्वरकी आज्ञाओंको अपने
जीवनका आधार बनातेहुए, धार्मिक व्रतोंको धारण करतेहुए,
मधुरता और शान्तिको अपने आचरणका भूषण बनातेहुए, इस
यात्राका आरंभ करो । इसका फल शान्ति और कल्याण होगा ।
इसका वर्णन कल करूँगा ।

—:-०:-—

चौथा खण्ड

शान्तिका सन्देश ।

महाऽ—प्यारे सज्जनो, जिन वातोंको आप कुच्छ दिनसे
सुनते चले आरहे हो, वह एक नया संसार है । अह, जहाँ न
राग हो, और न द्वेष हो, न वैर हो, और न ईर्ष्या हो, न शोक

हो और न मोह हो, वहाँ पहुंचना कितने सौभाग्यकी बात है । सारे व्यवहार प्रेम और सहयोगसे चलते हों । कोई किसीको बोखा न दे । कोई असत्य न बोले । सत्य है, यह नया संसार है । परन्तु वेद हमें वहाँ पहुंचनेका उपदेश करता है ।

(१) विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव । अति गाहेमहि द्विषः ॥ १२३ ॥

ऋक्० २ । ७ । ३ ॥

अर्थः—(उत) और [हे प्रभो,] (त्वया) तेरी सहायतासे (वयं) हम (उदन्याः) जलकी (धारा:) धाराओंको (इव) तरह (विश्वाः) सब प्रकारकी (द्विषः) द्वेषकी भावनाओंको (अति गाहे-महि) लांघ सकें ॥ १ ॥

प्यारो, यही प्रभुसे नित्य वरदान मांगा करो । वर्षोंकी कमाई थोड़ी-सी द्वेष-बुद्धिके आजानेसे मिट्टीमें मिल जाती है । प्रभो, संसारके लोग परस्पर द्वेष करना छोड़ दें ।

(२) इदमुच्छ्रेयोवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् । असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ॥ १२४ ॥

अथर्व० १६ । १४ । १ ॥

अर्थः—(इदं) इस (अवसानं) अन्तिम (श्रेयः) कल्याण [=जीवनमुक्ति] को (उत-आगां) प्राप्त होनुका हूँ, (मे) मेरेलिये (द्यावापृथिवी) भूमि और आकाश (शिवे) शिवरूप (अभूतां) होनुके हैं । (मे) मेरे (प्रदिशः) [सब] प्रदेश (असपत्नाः) शत्रुरहित (भवन्तु) हों, (वै) क्योंकि [हे

संसार] (त्वा) तेरे साथ [हम] नहीं (द्विष्मः) द्वेष करते, (नः) हमारेलिये (अभयं) अभय (अस्तु) हो ॥ २ ॥

प्यारो, भगवानका भक्त जिस शिखरपर चढ़कर यह घोषणा करता है, वह हमें यहांसे पूरी तरह दिखाई भी नहीं देती । परन्तु वेद भगवानके आदर्शके अनुसार, यह उच्च दशा सबको प्राप्त होसकती है । साधनाकी आवश्यकता है । पूर्व कहे मार्गके अवलम्बनसे ही मनुष्य इस मस्तीका लाभ कर सकता है । उस समय उसे चारों ओर शान्ति और प्रेमके ही दृश्य दिखाई देते हैं । वह स्पष्टरूपसे अनुभव करता है कि मैं किसीसे द्वेष नहीं करता और मेरेलिये कहीं भय नहीं । इस अवस्थाकी प्राप्तिकेलिये हम सबको लगे रहना चाहिये ।

(३) वैश्वदेवीं वर्चस आरभधं शुद्धा भवन्तः शुचयः
पावकाः । अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्व-
वीरा मदेम ॥ १२५ ॥

अर्थ ० १२ । २ । २८ ॥

अर्थः—[हे साधको] (वर्चसे) प्रकाश [की प्राप्ति] केलिये (वैश्वदेवीं) सब देवताओंके साथ सम्बन्ध रखनेवाली [जीवन-नीति] को (आ-रभधं) धारण करो, (शुद्धाः) शुद्ध (शुचयः) पवित्र (पावकाः) शुद्ध करनेवाले (भवन्तः) होते-हुए, (दुरिता) बुरे (पदानि) मार्गोंको (अतिक्रामन्तः) लांघतेहुए [हम] (सर्ववीराः) सब वीरोंसे युक्त होतेहुए (शतं) सौ (हिमाः) वर्ष (मदेम) आनन्द करें ॥ ३ ॥

पूर्व कही जीवन-नीतिहीका आश्रय करनेसे सम्पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति होगी । उसको धारण करतेहुए दो बातोंका

सदा ध्यान रखना चाहिये । हम स्वयं शुद्ध हों । जो हमारे साथ रहे, वह भी शुद्ध होजावे । बुराईसे परे परे रहकर साधनामें लगे रहना चाहिये । यह कार्य वीरोंका है । असफलतासे निराश होकर आत्म-धातकेलिये तथ्यार होजानेवाले कायरोंका नहीं । अतः वेदका यह उपदेश है कि वीर बनकर सारी आयु इस पवित्र पुरुषार्थमें लगे रहना चाहिये । शनैः २ बुद्धिकी स्थिरता प्राप्त होने लगती है ।

(४) तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहंवृणे सुमर्ति विश्ववाराम् । यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय ॥ १२६ ॥ अथर्व० ७ । १५ । १ ॥

अर्थ:—(सवितः) हे सर्व-प्रेरक, प्रभो, (तां) उस (सत्यसवां) सत्यको पैदा करनेवाली (सुचित्रां) आश्रयरूप, (विश्ववारां) सर्व मनोरथोंको देनेवाली (सुमर्ति) सुमतिको (यां) जिसे (अस्य) इस [बात] का (कण्वः) विद्वान् (महिषः) महत्त्वको प्राप्त हुआ २, [इस] प्रपीनां अच्छ्री तरहसे उन्नत, (सहस्रधारां) सहस्रों धाराओंवालीको (अदुहत्) दोहता है, (अहं) मैं [भी उसेही] (आवृणे) बरता हूँ ॥ ४ ॥

यहां पर सुमतिको कामधेनुकी तरह दोही जानेवाली, सब मनोरथोंकी सिद्ध करानेवाली कहा है । पूर्व कहे प्रकारसे स्थिरमति पैदा होती है । उसकी स्थिरताका यह चिह्न है कि अब जोभी मनमें विचार उठता है, वह स्वभावसेही सञ्चा होता है । यह दिव्य-सम्पत्ति है । इसे कौन नहीं चाहता ? पर वेद भगवान् बतलाता है कि इस सुरगवीको आप, विद्वान् पुरुषही दोहना

जानते हैं। पूर्व प्रसंगोंमें बतायेहुए लंबे और कठिन मार्गपर चलनेकाही यह फल होसकता है। इसीकी प्राप्ति धीर, वीर पुरुषोंका लक्ष्य होता है।

(५) त्वमश्चे प्रथमो अंगिरा ऋषिदेवो देवानामभवः
शिवः सखा । तव व्रते कवयो विद्वनापसो ऽजायन्त मरुतो
भ्राजदृष्टयः ॥ १२७ ॥

यजु० ३४ । १२ ॥

अर्थ :—(अश्चे) हे सर्वज्ञ प्रभो, (त्वं) आप (देवानां) देवताओंके (शिवः) कल्याणकारी (सखा) मित्र, (प्रथमः) सर्वथेष्ठ (अंगिराः) प्राणरूप (ऋषिः) सर्वदर्शी (देवः) प्रकाश-स्वरूप (अभवः) हो। (तव) आपके (व्रते) व्रतके अनुसार [चलकर] (कवयः) बुद्धिमान (आपसः) कर्मवीर (मरुतः) विद्वान् (विद्वना) ज्ञानसे [युक्तहोकर] (भ्राजदृष्टयः) चमकनेवाली दृष्टिसे युक्त (अजायन्त) होजाते हैं ॥ ६ ॥

सज्जनो, जैसा आदर्श मनुष्यके सामने रहता है, वह वैसाही अपने आप बनता चलाजाता है। अतः वेद भगवान् वतलाता है कि ऋषियोंकी दृष्टिकी सूक्ष्मताका कारण यह होता है कि वे प्रभुके प्रकाशको अपना लक्ष्य बनाते हैं। वे कर्ममें निपुण और बुद्धिमान तो होते ही हैं। जब प्रभुके अनुपम प्रकाशके साथ उनका संबंध जुड़जाता है, तो फिर बिल्कुल कोई न्यूनता नहीं रहती। प्रभुके व्रतोंको पालन करनेका उन्हें यह प्रसाद मिलता है।

(६) दृते दृ॒ह मा॒ मित्रस्य मा॒ चक्षुषा॒ सर्वाणि॒ भूतानि॒ स-

मीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १२८ ॥ यजु० ३६ । १८ ॥

अर्थः—(द्वते) हे दुःखनाशक प्रभो, (मा) मुझे (हांह)
पक्काकर, (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (मा) मुझे (मित्रस्य)
मित्रकी (चक्षुषा) आंखसे (समीक्षन्तां) देखें, (अहं) मैं
(सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियोंको (मित्रस्य) मित्रकी
(चक्षुषा) दृष्टिसे (समीक्षे) देखता हूँ, [हमसब] (मित्रस्य)
मित्रकी (चक्षुषा) आंखसे (समीक्षामहे) देखते हैं ॥ ६ ॥

व्यारो, एक और रहस्यकी बात समझ लो । संसारसे
प्रेमकी आशा करनेसे पहिले, स्वयं प्रेम करना सीखलो । किसीसे
धृणा मत करो । सारे प्रेमका यह सूल हेतु है । सारा जगत्
प्रेमके सूत्रमें बंधा हुआ प्रतीत होने लगेगा । जो आप तो आगे
बढ़ते नहीं, केवल दूसरोंसे अधिक आशाएं रखते हैं, वे निराश
होकर दुःख पाते हैं । प्रभुने प्राणियोंको शत्रुताके लिये नहीं
पैदा किया । पर मित्रताका प्रकाश तब होता है जब इसकी
इच्छा करनेवाला, पहिले अपनेसे आरंभ करे ।

(७) द्वते दृश्यह मा ज्योक्ते संदृशि जीव्यासं ज्योक्ते
संदृशि जीव्यासम् ॥ १२९ ॥

अर्थः—(द्वते) हे दुःखविदारक प्रभो, (मा) मुझे (हांह)
पक्का करो, (ज्योक्तु) सदा (ते) तेरी (संदृशि) (प्रेमभरी)
दृष्टिमें (जीव्यासं) जिझूँ, (ज्योक्तु) सदा (ते) तेरी (संदृशि)
(प्रेमभरी) दृष्टिमें (जीव्यासं) जिझूँ ॥ ७ ॥

प्यारो, भगवानके पास होनेका अनुभव बड़ा सहारा है। पापीको भय होता होगा । पर, जिसने पाप छोड़कर, ऊपर उठनेका ब्रत प्रहण कियाहो, उसके लिये प्रभुकी समीपतासे बढ़कर और बातहोही क्या सकती है ? वही उसका लक्ष्य है । उसेही हूँढता २ वह यहांतक आया है । अब वह यही चाहता है कि प्रभु उसको सदा अपनी देख रेखमें रखें ।

(८) मयि त्यदिन्द्रियं वृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः ।
धर्मस्त्रिशुभिराजाति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा
सह ॥ १३० ॥ यजु० ३८ । २७ ॥

अर्थः—(मयि) मेरे अन्दर (त्यत) वह (वृहत्) बड़ी (इन्द्रिय) इन्द्रिय-शक्ति [है], (मयि) मेरे अन्दर (दक्षः) बल (मयि) मेरे अन्दर (क्रतु) वुद्धि तथा कर्म [है], (विराजा) प्रकाशात्मक (ज्योतिषा) ज्योतिके (सह) साथ (ब्रह्मणा) ब्रह्म [के] (तेजसा) तेजके (सह) साथ (त्रि-शुक्) तीन तरहके प्रकाशसे युक्त [जीवनकी] (धर्मः) गरमी [मेरे अन्दर] (विराजाति) चमकती है ॥ ८ ॥

प्यारो, शारीरिक, मानसिक और आत्मिक प्रकाशसे युक्त जीवनको धारण करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये । इसके बिना यही समझो कि भट्टीमें कोइला जल रहा है । वह गरमी जड़ है । जीवनकी गरमीका स्वरूप सर्व प्रकारके प्रकाशसे युक्त होना चाहिये । आत्मिक और मानसिक प्रकाशके बिना जीवनकी गरमी अनुचित राग, द्वेष और क्रोध आदि में नष्ट होती है । इस प्रकाशसे प्रकाशित होकर प्रभु-भक्तिकी मिठाससे

पूर्ण होकर शान्तिका विस्तार करनेवाली होसकती है । प्रत्येक साधकको आत्म-विश्वासके साथ, इस प्रकारके पूर्ण जीवनको अपने अन्दर अनुभव करनेका सामर्थ्य बढ़ाना चाहिये । उसके शारीरिक जीवनकी जब पूर्णाहुति होनेवाली हो, तो वह अपने भगवान्के सामने खड़ा होकर यह कह सके ।

(९) अग्ने व्रतपते व्रतमचारिणं तदशकं तन्मेऽशाधि ।
इदमहं य एवाऽस्मि सोऽस्मि ॥ १३१ ॥ यजु० २ । २८ ॥

अर्थः—(अग्ने) हे सर्वज्ञ (व्रतपते) व्रतोंके रक्षक, [मैने] (व्रतं) व्रतको (अचारिणं) धारण किया है, [मै] (तद्) उसे (अशकं) पाल सका हूँ, (तत्) वह (अशाधि) सिद्ध होचुका है । (इदं) यह (अहं) मैं (यः) जो (यत्) कुच्छ (अस्मि) हूँ (सः) वह (अस्मि) [सेवामें उपस्थित] हूँ [स्वीकार करो, स्वीकार करो] ॥ ९ ॥

सज्जनो, इस प्रसंगमें अब मैं और क्या कहूँ । जीवनकी पराकाष्ठा पहुँच चुकी है । साधकका व्रत और तप सिद्ध होचुका है । अब वह जिस ज्योतिकी तलाशमें निकला था, अब वह दिन रात उसके अन्दर और बाहिर प्रकाश कर रही है । लम्बी यात्राकी थकावट दूर होचुकी । मार्गकी धूली उड़ चुकी । चारों ओर शान्ति ही शान्ति है । सहस्रों वर्षोंसे विद्वेष हुए मित्र पुनः गले लग रहे हैं । अब मानस-सरोवर भ्रम और आनन्दसे उमड़ रहा है । अब सरस्वतीकी मधुर वीणा हृदयका मोहित कर रही है । धन्य हैं वे सज्जन, जो इस मार्गपर चलनेमें रुचि रखते हैं । सर्व साधारणको यह नहीं माता ।

आरम्भमें यह विकट और कठिन है । पर, प्यारो, परिणाम कितना मधुर है ! यही देवताओं और साधारण लोगोंमें भेद है । देवता तुरन्त फलको प्राप्त न करके घबराते नहीं । सत्य, असत्यका विवेक करके, सत्यके मार्गपर वे शान्तिसे चले चलते हैं । समय आता है जब उनकी झोली मीठेसे मीठे फलोंसे भर जाती है । प्यारो, जो कुच्छ स्थूल आँखोंसे दिखाई देता है, उससे असंख्य गुण वह जगत् है, जो दिखाई नहीं देता । आत्मिक आनन्द और विकास प्राप्त होनेपर ही ठीक स्वरूपमें अनुभव होसकते हैं । हां, वेद भगवान् इस अनुभवका मार्ग पूर्णतया बताता है । जो श्रद्धापूर्वक इसपर चलेगा, उसकेलिये सुनहरी छार खुल जावेगा । प्यारो, आजके प्रकरणके साथ मानस अध्याय समाप्त होता है । पहिली बार आप जीवके स्वरूप तथा उसके प्रभुके साथ सम्बन्धको समझ चुके हैं । शरीरके विषयमें भी वेद भगवान्का सन्देश सुन चुके हैं । इस बार अन्तःकरणके स्वरूप, सरस्वती-जागरण, ज्ञानकी विशेषता, आन्तरिक शुद्धि, पुनरुद्धार, आदर्श जीवन-नीति तथा इन सबके यथार्थ साधनोंके विषयमें आपने बड़ी रुचिके साथ उपदेश सुना है । आशा है, आप इन बातोंसे लाभ उठारहे होंगे ।

लोक०—महाराज, जब मेरी काया-पलट होरही है, तो इसमें कोई सन्देह ही नहीं ।

सत्य०—भगवन्, इस प्रकारसे आपने एक व्यक्तिको लेकर उसकी पूर्णताका चित्र खींच दिया है ।

महा०—हाँ, मेरा यही अभिव्याय था । तत्त्वसन्देश, शरीरसन्देश और मानससन्देश मिलकर हमारे सामने हमारे स्वरूप, आदर्श और उसकी प्राप्तिके मार्गको पूर्णतया रख देते हैं । यह वेद भगवान्‌की महिमा है, कि उसमें इतना पूर्ण वर्णन है ।

वस्तु०—आपकी बातसे कुच्छ पेसा प्रतीत होता है कि अब आप हमसे यह आत्मिक आनन्द छीनना चाहते हैं ।

महा०—प्यारे, इतना सुनकर भी पेसा क्यों कहते हो ? अब यह आनन्द तुम्हारा हो चुका । इसे कोई छीन नहीं सकता । मेरा विचार कुच्छ दिनकेलिये हरद्वारके कुम्भपर जानेका है । वहांसे वापिस आकर फिर आपके सामने दूसरे प्रकरणका आरम्भ करूँगा ।

माया०—महाराज, कब प्रस्थान करेंगे ? मेरा भी आपकी सेवामें चलनेका विचार है ।

सत्य०—बस, अब तथ्यारी ही है । वैशाखीसे दो तीन सप्ताह पूर्व तो वहां पहुंचना ही चाहिये ।

महा०—बहुत अच्छा, सज्जनो, तष्ठ तक आपने जो कुच्छ सुना है, इसे सफल करते रहो । प्रभुने चाहा, तो फिर इसी प्रकार कुच्छ दिन और वेद भगवान्‌के पवित्र सन्देशको सुनें सुनावेंगे ।

इति वेदसन्देशे तृतीयोऽथ्यायो द्वितीयो मायाश्च समाप्तः ॥



वैदिकाश्रम-ग्रन्थमाला लाहौर

१. इस मालाका उद्देश्य वैदिकधर्मके प्रचारार्थ सरल और स्थायी साहित्यका प्रकाश करना है ।
२. स्थायी ग्राहक बननेका शुल्क ॥) है ।
३. स्थायी ग्राहकोंको प्रत्येकपुस्तक पैने मूल्यपर मिलेगी । पुस्तक निकलनेपर सूचना दीजावेगी ।

इस मालाका प्रथम पुष्ट—

वेद-संदेश प्रथम भाग ।

दूसरा कुम्भ संस्करण तयार है । सुनहरी जिल्द मूल्य १॥)

दूसरा पुष्ट—

देवयज्ञ-प्रदीपिका ।

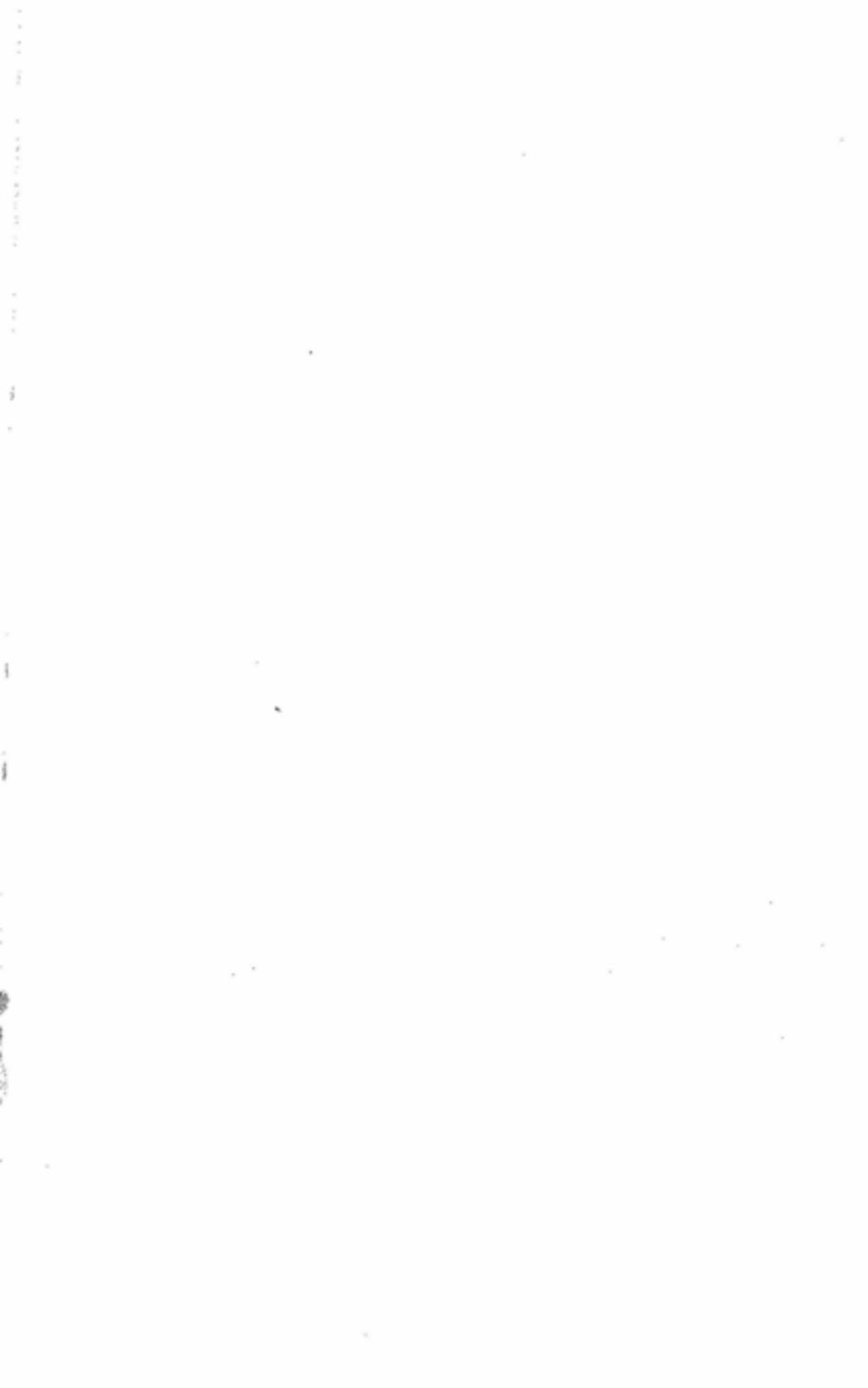
कर्मकाण्डकी आधिभौतिक और आध्यात्मिक विवेचना, तथा मंत्रोंके सरल अर्थ । सुनहरी जिल्द मूल्य १।) कई और उत्तम ग्रन्थ शीघ्र छपनेवाले हैं । स्थायी ग्राहक बनें और अमृत पान करें ।

पत्र व्यवहारका पता—

मैनेजर वैदिकाश्रम-ग्रन्थमाला

दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय,

लाहौर ।



CATALOGUED.

~~16/12/80~~

~~16/12/80~~

Central Archaeological Library,
NEW DELHI.
Acc. No. 19607

Call No. 294.1/Vis

Author— Visvabandhu

Title—Veda Sandesha.—2

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.